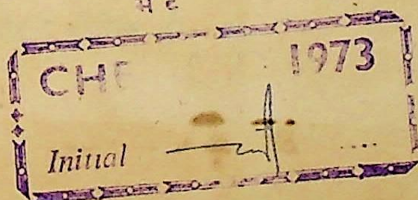
राजधर्म

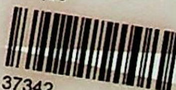
दयानन्द सरस्वती

पुस्तकालय

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।


1973
Initial


2.1,29
37342

महर्षि दयानन्द प्रणीत

राजधर्म

सम्पादक—

पं० लक्ष्मीदत्त दीक्षित बी० ए०

भूमिका लेखक—

प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति

सदस्य, भारतीय व्यवस्थापिका परिषद्
प्रधान
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

मुद्रक तथा प्रकाशकः—
पं० ज्ञानचन्द आर्य सेवक,
सार्वदेशिक प्रैस, पाटौदी हाउस,
दरियागंज, देहली ।

भारतीय

सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न

लोकतन्त्रात्मक जनराज्य

के

प्रथम राष्ट्रपति

श्री डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी

की सेवा में

आर्य जगत् की ओर से

सादर समर्पित

जनतन्त्र समारम्भ दिवस
२६ जनवरी, १६५०

इन्द्र विद्यावाचस्पति
प्रधान—
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा

विषय सूची

———

विषयानुक्रमणिका

प्रारम्भिक निवेदन

१८५७ की असफल क्रान्ति के पश्चात् जब भारत पर अंग्रेज़ों की सत्ता अपनी उच्चतम सीमा पर पहुंच गई थी, और पढ़े लिखे उन्नतिशील भारतवासी भी अपनी महत्त्वाकांक्षा के विमानों पर बैठकर सरकारी नौकरी और औपनिवेशिक स्वराज्य से अधिक ऊंचे नहीं जा सकते थे तब जिस महापुरुष ने पूर्ण स्वराज्य का स्वप्न देखा था, वह महर्षि दयानन्द था। महर्षि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में लिखा था—

"आर्यावर्त में भी आर्यों का अखण्ड स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है अथवा मत, मतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय, और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।" (८ म समुल्लास)

इससे अधिक स्पष्ट शब्दों में पूर्ण स्वराज्य का समर्थन नहीं किया जा सकता। पूर्ण स्वराज्यके मूल सिद्धान्तों की

रूप रेखा भी महर्षि दयानन्द ने अब से लगभग एक शताब्दी पूर्व सत्यार्थ प्रकाश में लिख दी थी। राज्य सत्ता किस के हाथ में हो इस विषय में महर्षि ने लिखा था—

"एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न होना चाहिये। किन्तु राजा जो सभापति हो तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।" (६ समुल्लास)

इस वाक्य का अभिप्राय स्पष्ट है। सभापति ही राजा समझा जाय। राजा सभा का सभापतित्व करता हुआ भी सभा के आधीन रहे, और राजा और सभा दोनों अपने को प्रजा के वशवर्ती समझें।

जिस युग में नव शिक्षा प्राप्त भारतवासी विदेशी वेश-भूषा और चालढाल पर मोहित होकर नकली अंग्रेज बनने में अपना अहोभाग्य समझते थे, उसी युग में महर्षि ने लिखा था, "देखो कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये योरुपियनों को हुये और आज तक ये लोग मोटे कपड़े आदि पहिनते हैं, जैसा कि स्वदेश में पहनते थे, परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल चलन नहीं छोड़ा और तुम में से बहुत से लोगों ने उनका अनुकरण कर लिया, इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।" (११ वां समुल्लास)

जिस समय सत्यार्थ प्रकाश लिखा गया उस समय देश की राजनीति में स्वराज्य या स्वदेशी राज्य जैसे शब्दों का प्रवेश भी नहीं हुआ था। 'भारत विदेशियों के पञ्जे से छूट कर पूर्ण

स्वतन्त्र हो सकता है ? यह स्वप्न महर्षि दयानन्द ने तब देखा था जब भारतवासियों की महत्वाकांक्षाओं की पराकाष्ठा हाईकोर्ट की जजी थी। साथ ही महर्षि ने एकसत्तात्मक राज्य की कल्पना का नाश करके स्वराज्य की, प्रजा, सभा, और सभापति ये तीन इकाइयां प्रतिपादित कीं।

स्वराज्य की स्थिरता के लिये स्वदेशी भाषा, आचार, व्यवहार, और दृष्टिकोण की अनिवार्यता पर महर्षि ने जो बल दिया वह व्यावहारिक गान्धीवाद का पूर्व रूप था।

महर्षि दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में केवल राजनीति के मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या करके ही सन्तोष नहीं किया। भारत के प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर उन्होंने व्यावहारिक राजनीति का भी विस्तार से प्रतिपादन किया है। वह प्रतिपादन इतना व्यापक और उपयोगी है कि प्रत्येक शासक को उसका अध्ययन करना चाहिये और आवश्यकतानुसार उससे लाभ उठाना चाहिये। महर्षि दयानन्द अंग्रेजी नहीं जानते थे, जो कुछ कहा या लिखा वह उनकी अन्तर्दृष्टि का परिणाम था, और यह बात असंदिग्ध है कि अन्तर्दृष्टि से उद्भूत विचार मनुष्य के सब से उत्तम मार्गदर्शक होते हैं। हम लोगों का विश्वास है कि महर्षि दयानन्द ने भारतीय वाङ्मय के आधार पर अपनी अन्तर्दृष्टि से राजनीति के जो मूल, और व्यावहारिक सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं केवल भारत के ही नहीं अन्य देशों के शासनकर्ताओं को भी उनके मनन से लाभ

पहुंचेगा, इस भावना से सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा की ओर से महर्षि के मुख्य ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश का राजनीति सम्बन्धी छठा समुल्लास कुछ परिशिष्टों के साथ स्वतन्त्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति श्री डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद जी की सेवा में समर्पित किया जा रहा है। सभा को विश्वास है कि उसकी यह भेंट राष्ट्रपति को उनके कठिन और गंभीर कर्तव्य के पालन रने में सहायता देगी।

निवेदक

इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रधान

सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा दिल्ली।

महर्षि ने कहा था—

हमारा आदि देश—

इस (आर्यावर्त) से पूर्व इस देश का नाम कोई भी नहीं था और न कोई आर्यों के पूर्व इस देश में बसते थे। आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सीधे इसी देश में आकर बसे थे। किसी संस्कृत ग्रन्थ या इतिहास में नहीं लिखा कि आर्य लोग ईरानसे आये और यहां के जङ्गलियों से लड़ कर, जय पाकर, निकाल इस देश के राजा हुए। पुनः विदेशियों का लेख कैसे माननीय हो सकता है।

सर्वोत्तम देश—

यह आर्यावर्त्त देश ऐसा है कि जिसके सदृश भूगोल में दूसरा देश नहीं है। आर्यावर्त्त देश ही सच्चा पारस मणि है कि जिसको लोहे रूपी विदेशी छूते ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।

स्वदेश प्रेम—

जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे होगा उसकी उन्नति तन मन धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें।

स्वराज्य का महत्व—

कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशी राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।

स्वराज्य की घोषणा—

अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों तथा हम लोग पराधीन न रहें।

दुखों का कारण विदेशी राज्य–

जब से विदेशी इस देश में आकर राज्याधिकारी हुए हैं तब से क्रमशः आर्यों के दुःख की बढ़ती होती जाती है।

विदेशी राज्य का कारण—

जब आपस में भाई भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है। विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट मतभेद आदि हैं।

एकता का साधन—

सब उन्नतियों का केन्द्रस्थान ऐक्य है। जहां भाषा, भाव और भावना में एकता आ जाय वहां सागर में नदियों की भांति सारे सुख एक एक करके प्रवेश करने लग जाते हैं। परन्तु भिन्न भिन्न भाषा, पृथक् २ शिक्षा, अलग व्यवहार का विरोध

छूटना अति दुष्कर है। विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है। जब तक एक मत, एक हानि लाभ, एक सुख दुःख परस्पर न मानें तब तक उन्नति होना कठिन है।

राज्य का नाश—

परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी और अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन तक नहीं रहता।

विदेशी वस्तुओं के प्रयोग से हानि—

जब परदेशी देश में व्यापार करें तो बिना दारिद्र्य और दुःख के दूसरा कुछ भी नहीं हो सकता।

स्वदेशी का प्रयोग—

अपने ही देश के वस्तु वेष को अपनाने में शोभा है। देखो! यूरोपियन अन्य देशस्थ मनुष्यों का भी इतना मान नहीं करते जितना अपने देश के बने जूते का। अपने देश वालों को व्यापार में सहायता देते हैं।

देश देशान्तर में व्यापार—

बिना देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में व्यापार किये स्वदेश की उन्नति नहीं होसकती।

विदेश यात्रा—

जब हम अच्छे काम करते हैं तो हमको देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर जाने में कुछ भी दोष नहीं लगता। दोष तो पापकर्म

करने में लगते हैं। धर्म हमारे आत्मा और कर्तव्य के साथ है।

किसान और मज़दूर—

राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है। जो राजा (कर के रूप में) धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें।

राजा या राष्ट्रपति कैसा हो—

जो सब राजसभासदों में सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभाव युक्त महान् पुरुष हो और सबके प्राणवत् प्रिय, पक्षपात रहित, दुष्टों को भस्म करने वाला और शीघ्र ऐश्वर्यकर्त्ता हो उसी को राजा या सभापति (राष्ट्रपति) करो।

निर्वाचित राजा—

हे प्रजाजनो ! तुम सम्मति करके सर्वत्र पक्षपात रहित, पूर्ण-विद्यायुक्त, सबके मित्र, सभापति राजा को सर्वाधीश मानकर सब भूगोल शत्रु रहित करो।

एकतंत्र (Dictatorship) का निषेध—

प्रजा को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि उनके देश का शासन किसी सभा के अधीन हो न कि किसी एक व्यक्ति के। राज्य के लिये एक को राजा कभी न मानना चाहिये क्योंकि जहां एक को राजा मानते हैं वहां सब प्रजा दुःखी और उसके उत्तम पदार्थों का अभाव हो जाता है। विशेष सहाय के

विना जो सुगम कर्म है वह भी एक के करने में कठिन होजाता है। जब ऐसा है तो महान् राजकार्य एक से कैसे होसकता है। इस लिये एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य का निर्भर करना बहुत ही बुरा कार्य है।

प्रजाधीन राजा—

प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा व राजपुरुष कभी न चलें। जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें। जिसलिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके प्रजा का नाशक होता है अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता है। जैसे सिंह व मांसाहारी हृष्टपुष्ट पशु को मारकर खा लेते हैं वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है।

सभाधीन राजा—

राजा अपने मन से एक भी कार्य न करे जब तक सभासदों की अनुमति न हो। न्यून से न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानों की सभा जैसी व्यवस्था करे उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लंघन कोई न करे।

आदर्श प्रजातन्त्र—

राजा जो सभापति है तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे। जो प्रजा न हो तो राजा किसका ? राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे ? दोनों अपने अपने काम में स्वतंत्र और प्रतियुक्त मिले हुए काम में परतन्त्र रहें।

मन्त्रिमण्डल—

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न, विद्वान्, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार कभी निष्फल न हो और कुलीन, अच्छे प्रकार परीक्षित, उत्तम धार्मिक चतुर मंत्री हों।

राजसभा के सदस्य—

यदि एक अकेला सब वेदों का जानने वाला द्विजों में श्रेष्ठ संन्यासी जिस धर्म की व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि अज्ञानियों के सहस्रों, लाखों, करोड़ों मिलके जो व्यवस्था करें उसको कभी नहीं मानना चाहिये, इसलिए तीनों अर्थात् विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभा में मूर्खों को कभी भरती न करे किन्तु सदा विद्वान् और धार्मिक पुरुषों का स्थापन करे।

कार्यविभाजन—

जो पुरुष जिस कार्य के योग्य हो उसे वही करने का अधिकार देना चाहिए।

विदेश नीति—

जो धार्मिक राजा हो उससे कभी विरोध न करे किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और जो दुष्ट हो उसके जीतने के लिए प्रयत्न करे। जीतकर उसके साथ प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समझे तो उसी के वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुष को राजा करदे और उससे लिखा ले कि तुम्हें जैसी धर्मयुक्त

राजनीति है उसके अनुसार चलके न्याय से प्रजाका पालन करना होगा और ऐसे पुरुष वहां रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो।

शत्रु के बन्दियों से व्यवहार—

जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाये और पुनः युद्ध की आशंका न रहे तो उनको सत्कार पूर्वक छोड़ कर अपने २ घर या देश को भेज देवें।

राष्ट्र संघ—

लक्ष ग्रामाधिपति (विभिन्न राष्ट्रपति) सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा (अन्ताराष्ट्रिय संघ) में सब भूगोल का वर्तमान जनाया करें।

सत्याग्रह—

सत्य के लिए जेल जाना कोई लज्जा की बात नहीं। जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सदा किया करे। इस काम में चाहे कितना ही दारुण दुःख हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें परन्तु इस मनुष्यरूप धर्म से विचलित कभी न होवे।

यदि लोग मेरी अंगुलियां भी जला दें तो भी कोई चिन्ता नहीं। सत्योपदेश मैं अवश्य करूंगा।

यथायोग्य व्यवहार—

सबसे प्रीतिपूर्वक, धर्मानुसार; यथायोग्य बर्तना चाहिए।

सबकी उन्नति—

प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न होना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

राष्ट्रभाषा—

एक भाषा और एक लक्ष्य बनाये बिना भारत का पूर्ण हित होना दुष्कर है।

गोरक्षा—

गवादि पशु और कृष्यादि कार्यों की रक्षा और वृद्धि होकर सब प्रकार के उत्तम सुख प्राप्त होते हैं। राजा प्रजा से कर लेता है कि उनकी रक्षा करे न कि उनका नाश किया करे।

भारतीय रियासतें—

मैं चाहता हूँ कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार करें। अपने राज्य में धर्म, भाषा और भावों में एकता पैदा करें।

राज्य की भावना—

राजा यह समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" अर्थात् हम सब प्रजापति अर्थात् परमेश्वर का प्रजा हैं और परमात्मा हमारा राजा। हम उसके भृत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।

दण्ड—

दण्ड ऐसा हो जिससे डर कर लोग बुरे काम करने से अलग रहें। जो जितना बड़ा हो उतना ही कड़ा दण्ड उसे मिले साधारण मनुष्य से राजा को सहस्रगुणा दण्ड होना चाहिए और मन्त्री को आठ सौ गुणा।

यथा राजा तथा प्रजा—

इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसलिए राजा और राजपुरुषों को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म न्याय से बर्त कर सबके सुधार का दृष्टान्त बनें।

संस्कृत में पूर्ण राजनीति—

जो २ भूगोल में राजनीति चली और चलेगी वह सब संस्कृत विद्या से ली है।

———

आदर्श राष्ट्र

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम् आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् । निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ ---वेद

हमारे इस राष्ट्र में ज्ञान विज्ञान के तेज और ओज से सम्पन्न ब्राह्मण हों, शस्त्रास्त्र के संचालन में निपुण शत्रुओं को जीतने वाले शूरवीर महारथी क्षत्रिय हों। दुधारु गौओं की भरमार हो, अश्वादि पशु भारवाही और तीव्र गति वाले हों। यहां की स्त्रियां बुद्धिमती तथा प्रबन्ध में कुशल हों। रथारोही जयशील हों, यजमानों की सन्तान जवान, वीर तथा सभाकार्यों में कुशल हो। जब २ हम चाहें तब २ वर्षा हुआ करे। हमारी कृषि तथा अन्य वनस्पति यथासमय फलपुष्प वाली हों। हमारा योगक्षेम सदा बना रहे॥

राष्ट्र रक्षा के साधन

सत्यं बृहद्दतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी
नः कृणोतु॥—वेद

सत्य, महत्त्वाकांक्षा, ऋत, तेजस्विता, दीक्षा, तप, ब्रह्म तथा यज्ञ राष्ट्र को धारण करते हैं। हमारे भूत, वर्त्तमान तथा भविष्यत् की रक्षक हमारी मातृभूमि हमारे लिये विस्तृत स्थान तथा प्रकाश की व्यवस्था करे।

राज धर्म

राजधर्मान् प्रवक्ष्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।
संभवश्च यथा तस्य सिद्धिश्च परमा यथा ॥१॥
ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि।
सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम् ॥२॥
[मनु० ७ । १ । २]

अब मनुजी महाराज ऋषियों से कहते हैं कि चारों वर्ण और चारों आश्रमों के व्यवहार कथन के पश्चात् राजधर्मों को कहेंगे कि किस प्रकार का राजा होना चाहिये और जैसे इसके होने का सम्भव तथा जैसे इसको परमसिद्धि प्राप्त होवे उसको सब प्रकार कहते हैं ॥ १ ॥

कि जैसा परम विद्वान् ब्राह्मण होता है वैसा विद्वान् सुशिक्षित होकर क्षत्रिय को योग्य है कि इस सब राज्य की रक्षा न्याय से यथावत् करे ॥ २ ॥ उसका प्रकार यह है—

तीन सभायें

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि ॥ ऋ० मं० ३ । सू० ३८ । मं० ६ ॥

ईश्वर उपदेश करता है कि (राजाना) राजा और प्रजा के पुरुष मिलके (विदथे) सुख प्राप्ति और विज्ञान वृद्धिकारक राजा प्रजा के सम्बन्धरूप व्यवहार में (त्रीणि सदांसि) तीन सभा अर्थात् विद्यार्य्यसभा, धर्मार्यसभा, राजार्यसभा नियत करके (पुरूणि) बहुत प्रकार के (विश्वानि) समग्र प्रजासम्बन्धी मनुष्यादि प्राणियों को (परिभूषथः) सब ओर से विद्या स्वातन्त्र्य धर्म सुशिक्षा और धनादि से अलंकृत करें ॥

तं सभा च समितिश्च सेना च ॥ १ ॥
अथर्व० का० १५। अनु० २ । व० ९। मं० २॥
सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥२॥
अथर्व० का० १९ । अनु० ७ । व० ५५। मं० ६ ॥

(तम्) उस राजधर्म को (सभा च) तीनों सभा (समितिश्च) संग्रामादि की व्यवस्था और (सेना च) सेना मिलकर पालन करें ॥ १ ॥ सभासद् और राजा को योग्य है कि राजा सब सभासदों को आज्ञा देवे कि हे (सभ्य) सभा के योग्य मुख्य सभासद् तू (मे) मेरी (सभाम्) सभा की धर्मयुक्त

व्यवस्था का (पाहि) पालन कर और (ये च) जो (सभ्याः) सभा के योग्य (सभासदः) सभासद् हैं वे भी सभा की व्यवस्था का पालन किया करें ॥ २ ॥

आदर्श प्रजातन्त्र

इसका अभिप्राय यह है कि एक को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार न देना चाहिये किन्तु राजा जो सभापति तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे, यदि ऐसा न करोगे तो:—

राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः । विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशुं मन्यत इति ॥ शत० कां० १३ । प्र० २ । ब्रा० ३ । [कं० ७ । ८]

जो प्रजा से स्वतन्त्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो (राष्ट्रमेव विश्याहन्ति) राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करें, जिस लिये अकेला राजा स्वाधीन वा उन्मत्त होके (राष्ट्री विशं घातुकः) प्रजा का नाशक होता है अर्थात् (विशमेव राष्ट्रायाद्यां करोति) वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ित करता) है इसलिये किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिये, जैसे सिंह वा मांसाहारी हृष्टपुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं वैसे (राष्ट्री विशमत्ति) स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता

है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता, श्रीमान् को लूट खूट अन्याय से दण्ड लेके अपना प्रयोजन पूरा करेगा, इसलिये:—

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै ।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह ॥
अथर्व० कां० ६ । १० । ९८ । १ ॥

हे मनुष्यो ! जो (इह) इस मनुष्य के समुदाय में (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य का कर्त्ता शत्रुओं को (जयाति) जीत सके (न पराजयातै) जो शत्रुओं से पराजित न हो (राजसु) राजाओं में (अधिराजः) सर्वोपरि विराजमान (राजयातै) प्रकाशमान हो (चर्कृत्यः) सभापति होने को अत्यन्त योग्य (ईड्यः) प्रशंसनीय गुण कर्म स्वभावयुक्त (वन्द्यः) सत्करणीय (चोपसद्यः) समीप जाने और शरण लेने योग्य (नमस्यः) सबका माननीय (भव) होवे उसी को सभापति राजा करे ।

राष्ट्रपति का निर्वाचन

इमन्देवा असपत्नᳬं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

यजु० अ० ६ । मं० ४० ॥

हे (देवाः) विद्वानो राजप्रजाजनो तुम (इमम्) इस प्रकार के पुरुष को (महते क्षत्राय) बड़े चक्रवर्ति राज्य (महते ज्यैष्ठ्याय

सब से बड़े होने (महते जानराज्याय) बड़े २ विद्वानों से युक्त राज्य पालने और (इन्द्रस्येन्द्रियाय) परम ऐश्वर्य युक्त राज्य और धनके पालने के लिये (असपत्न ँ सुवध्वम्) सम्मति करके सर्वत्र पक्षपात रहित पूर्ण विद्या विनययुक्त सब के मित्र सभापति राजाको सर्वाधीश मानके सब भूगोल शत्रु-रहित करो और—

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युस्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥

ऋ० मं० १। सू० ३९। मं० २॥

ईश्वर उपदेश करता है कि हे राजपुरुषो! (वः) तुम्हारे (आयुधा) आग्नेयादि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप भुशुण्डी अर्थात् बन्दूक धनुष बाण तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं के (पराणुदे) पराजय करने (उत प्रतिष्कभे) और रोकने के लिये (वीळू) प्रशंसित और (स्थिरा) दृढ़ (सन्तु) हों (युष्माकम्) और तुम्हारी (तविषी) सेना (पनीयसी) प्रशंसनीय (अस्तु) होवे कि जिससे तुम सदा विजयी होओ परन्तु (मा मर्त्यस्य मायिनः) जो निन्दित अन्यायरूप काम करता है उसके लिये पूर्व वस्तु मत हों अर्थात् जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता रहता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानों को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभाऽधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को

राजसभा के सभासद् और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण कर्म स्वभावयुक्त महान् पुरुष हो उसको राजसभा का पतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें। तीन सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें सबके हितकारक कामों में सम्मति करें सर्वहित करने के लिये परतन्त्र और धर्मयुक्त कामों में अर्थात् जो २ निजके काम हैं उन २ में स्वतन्त्र रहें। पुनः उस सभापति के गुण कैसे होने चाहियें:—

राष्ट्रपति के गुण

इन्द्राऽनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ॥१॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥२॥
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुवेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ॥३॥

मनु० [७ ॥ ४ । ६ । ७]

वह सभेश राजा इन्द्र अर्थात् विद्युत् के समान शीघ्र ऐश्वर्य-कर्त्ता वायु के समान सबके प्राणवत् प्रिय और हृदय की बात जानने हारा, यम पक्षपातरहित न्यायाधीश के समान वर्त्तने-वाला, सूर्य्य के समान न्याय धर्म विद्या का प्रकाशक अन्धकार

अर्थात् अविद्या अन्याय का निरोधक, अग्नि के समान दुष्टोंको भस्म करने हारा, वरुण अर्थात् बाँधने वाले के सदृश दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के तुल्य श्रेष्ठ पुरुषों को आनन्ददाता, धनाध्यक्ष के समान कोशों का पूर्ण करने वाला सभापति होवे ॥ १ ॥

जो सूर्यवत् प्रतापी सबके बाहर और भीतर मनों को अपने तेज से तपाने हारा जिसको पृथिवी में कड़ी दृष्टि से देखने को कोई भी समर्थ न हो ॥ २ ॥

और जो अपने प्रभाव से अग्नि, वायु, सूर्य्य, सोम, धर्म-प्रकाशक, धनवर्द्धक, दुष्टों का बन्धनकर्त्ता, बड़े ऐश्वर्यवाला होवे वही सभाध्यक्ष सभेश होने के योग्य होवे ॥ ३ ॥ सच्चा राजा कौन है:—

दण्ड का महत्त्व

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः ।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः ॥१॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥२॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥ ३ ॥

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥ ४ ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥ ५ ॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥ ६ ॥
तं राजा प्रणयन्सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्द्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥ ७ ॥
दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः ।
धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥ ८ ॥
सोऽसहायेन मूढेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ॥ ९ ॥
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता ॥ १० ॥

मनु० [७ ॥ १७-१९ । २४-२८ । ३० । ३१]

जो दंड है वही पुरुष, राजा, वही न्याय का प्रचारकर्त्ता और सबका शासनकर्त्ता, वही चार वर्ण और चार आश्रमोंके धर्मका प्रतिभू अर्थात् ज़ामिन है ॥ १ ॥

वही राजाका शासनकर्त्ता सब प्रजाका रक्षक सोते हुए

प्रजास्थ मनुष्योंमें जागता है इसीलिये बुद्धिमान् लोग दंडहीको धर्म कहते हैं ॥ २ ॥

जो दंड अच्छे प्रकार विचारसे धारण किया जाय तो वह सब प्रजाको आनन्दित कर देता है और जो विना विचारे चलाया जाय तो सब ओरसे राजाका विनाश कर देता है ॥ ३ ॥

विना दंडके सब वर्ण दूषित और सब मर्यादा छिन्न भिन्न होजायें। दंडके यथावत् न होने से सब लोगों का प्रकोप होजावे ॥ ४ ॥

जहां कृष्णवर्ण रक्तनेत्र भयङ्कर पुरुषके समान पापोंका नाश करनेहारा दंड विचरता है वहां प्रजा मोहको प्राप्त न होके आनन्दित होती है परन्तु जो दंडका चलानेवाला पक्षपात रहित विद्वान् हो तो ॥ ५ ॥

जो उस दंडका चलानेवाला सत्यवादी विचारके करनेहारा बुद्धिमान धर्म अर्थ और कामकी सिद्धि करनेमें पंडित राजा है उसीको उस दंडका चलानेहारा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ ६ ॥

जो दंडको अच्छे प्रकार राजा चलाता है वह धर्म अर्थ और कामकी सिद्धिको बढ़ाता है और जो विषयमें लम्पट, टेढ़ा, ईर्ष्या करनेहारा क्षुद्र नीचबुद्धि न्यायाधीश राजा होता है, वह दंडसे ही मारा जाता है ॥ ७ ॥

जब दंड बड़ा तेजोमय है उसको अविद्वान् अधर्मात्मा

धारण नहीं कर सकता तब वह दंड धर्मसे रहित कुटुम्बसहित राजा ही का नाश कर देता है ॥ ८ ॥

क्योंकि जो आप्त पुरुषोंके सहाय, विद्या, सुशिक्षासे रहित, विषयोंमें आसक्त मूढ़ है वह न्यायसे दंडको चलानेमें समर्थ कभी नहीं हो सकता ॥ ९ ॥

और जो पवित्र आत्मा सत्याचार और सत्पुरुषोंका सङ्गी यथावत् नीति शास्त्रके अनुकूल चलनेहारा श्रेष्ठ पुरुषोंके सहाय से युक्त बुद्धिमान् है वही न्यायरूपी दंडके चलानेमें समर्थ होता है ॥ १० ॥

मुख्य राज्याधिकारी

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति मनु० ॥१२।१००॥

सब सेना और सेनापतियों के ऊपर राज्याधिकार, दंड देने की व्यवस्था के सब कार्योंका आधिपत्य और सबके ऊपर वर्त्त-मान सर्वाधीश, राज्याधिकार इन चारों अधिकारों में सम्पूर्ण वेद शास्त्रोंमें प्रवीण पूर्ण विद्यावाले धर्मात्मा जितेन्द्रिय सुशील जनों को स्थापित करना चाहिये अर्थात् मुख्य सेनापति, मुख्य राजा-धिकारी, मुख्य न्यायाधीश, प्रधान और राजा ये चार सब विद्याओंमें पूर्ण विद्वान होने चाहियें।

व्यवस्था

दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥ १ ॥
त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्मपाठकः ।
त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वे परिषत्स्याद्दशावरा ॥ २ ॥
ऋग्वेदविद्यजुर्विच्च सामवेदविदेव च ।
त्र्यवरा परिषज्ज्ञेया धर्मसंशयनिर्णये ॥ ३ ॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥ ४ ॥
अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥ ५ ॥
यं वदन्ति तमोभूता मूर्खा धर्ममतद्विदः ।
तत्पापं शतधा भूत्वा तद्वक्तॄननुगच्छति ॥ ६ ॥
मनु० (१२ ॥ ११०–११५)

न्यूनसे न्यून दश विद्वानों अथवा बहुत न्यून हों तो तीन विद्वानोंकी सभा जैसी व्यवस्था करे उस धर्म अर्थात् व्यवस्था का उल्लङ्घन कोई भी न करे ॥ १ ॥

इस सभामें चारों वेद, न्यायशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र आदि के वेत्ता विद्वान् सभासद् हों परन्तु वे ब्रह्मचारी, गृहस्थ और

वानप्रस्थ हों तब वह सभा [हो] कि जिसमें दश विद्वानोंसे न्यून न होने चाहियें ॥ २ ॥

और जिस सभामें ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेदके जाननेवाले तीन सभासद् हो के व्यवस्था करें उस सभाकी की हुई व्यवस्था को कोई उल्लंघन न करे ॥ ३ ॥

यदि एक अकेला सब वेदोंका जाननेहारा द्विजोंमें उत्तम संन्यासी जिस धर्मकी व्यवस्था करे वही श्रेष्ठ धर्म है क्योंकि अज्ञानियोंके सहस्रों लाखों क्रोड़ों मिलके जो कुछ व्यवस्था करें उसको कभी न मानना चाहिये ॥ ४ ॥

जो ब्रह्मचर्य सत्यभाषाणादि व्रत वेदविद्या वा विचारसे रहित जन्ममात्रसे शूद्रवत् वर्त्तमान हैं उन सहस्रों मनुष्योंके मिलनेसे भी सभा नहीं कहाती ॥ ५ ॥

जो अविद्यायुक्त मूर्ख वेदोंके न जाननेवाले मनुष्य जिस धर्मको कहें उसको कभी न मानना चाहिये क्योंकि जो मूर्खोंके कहे हुये धर्मके अनुसार चलते हैं उनके पीछे सैकड़ों प्रकारके पाप लग जाते हैं ॥ ६ ॥

इसलिये तीनों अर्थात् विद्यासभा धर्मसभा और राजसभाओंमें मूर्खोंको कभी भरती न करे किन्तु सदा विद्वान और धार्मिक पुरुषोंका स्थापन करे और सब लोग ऐसे:—

राजसभासदों के गुण

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः ॥ १ ॥

इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् ।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः ॥२॥

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥३॥

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः ।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु ॥४॥

मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्य्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥५॥

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥६॥

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ॥७॥

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥८॥

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे ।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा ॥९॥

सप्तकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रैवानुषङ्गिणः ।
पूर्वं पूर्वं गुरुतरं विद्याद्व्यसनमात्मवान् ॥१०॥

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ॥११॥
मनु० [७। ४३-५३]

राजा और राजसभाके सभासद् तब हो सकते हैं कि जब वे चारों वेदोंकी कर्मोपासना ज्ञान विद्याओंके जानने वालोंसे तीनों विद्या सनातन दण्डनीति न्याय विद्या आत्मविद्या अर्थात् परमात्माके गुण कर्म स्वभावरूपको यथावत् जाननेरूप ब्रह्म-विद्या और लोकसे वार्त्ताओंका आरम्भ (कहना और पूछना) सीखकर सभासद् वा सभापति होसकें॥ १॥

सब सभासद् और सभापति इन्द्रियोंको जीतने अर्थात् अपने वशमें रखके सदा धर्ममें वर्त्तें और अधर्मसे हटे हटाए रहें इसलिये रात दिन नियत समयमें योगाभ्यास भी करते रहें क्योंकि जो जितेन्द्रिय कि अपनी इन्द्रियों (जो मन, प्राण और शरीर प्रजा है इस) को जीते विना बाहरकी प्रजाको वशमें स्थापन करने को समर्थ कभी नहीं हो सकता॥ २॥

दृढ़ोत्साही होकर जो कामसे दश और क्रोधसे आठ दुष्ट व्यसन कि जिनमें फंसा हुआ मनुष्य कठिनतासे निकल सके उनको प्रयत्नसे छोड़ और छुड़ा देवे॥ ३॥

क्योंकि जो राजा कामसे उत्पन्न हुए दश दुष्ट व्यसनोंमें फंसता है वह अर्थ अर्थात् राज्य धनादि और धर्मसे रहित होजाता है और जो क्रोधसे उत्पन्न हुए आठ बुरे व्यसनोंमें फंसता है वह शरीरसे भी रहित होजाता है॥ ४॥

कामसे उत्पन्न हुए व्यसन गिनाते हैं देखो—मृगया खेलना (अक्ष) अर्थात् चौपड़ खेलना जुआ खेलनादि, दिनमें सोना, कामकथा वा दूसरेकी निन्दा किया करना, स्त्रियोंका अति संग मादक द्रव्य अर्थात् मद्य, अफीम, भांग, गांजा, चरस आदि का सेवन, गाना, बजाना, नाचना वा नाच कराना सुनना और देखना, वृथा इधर उधर घूमते रहना, ये दश कामोत्पन्न व्यसन हैं ॥ ५ ॥

क्रोधसे उत्पन्न व्यसनोंको गिनाते हैं—"पैशुन्यम्" अर्थात् चुगली करना, विना विचारे बलात्कारसे किसीकी स्त्री से बुरा काम करना, द्रोह रखना, ईर्ष्या, अर्थात् दूसरेकी बड़ाई वा उन्नति देखकर जला करना, "असूया" दोषोंमें गुण, गुणोंमें दोषारोपण करना, "अर्थदूषण" अर्थात् अधर्मयुक्त बुरे कामोंमें धनादि का व्यय करना, कठोर वचन बोलना और बिना अपराध कड़ा वचन वा विशेष दण्ड देना ये आठ दुर्गुण क्रोधसे उत्पन्न होते हैं ॥६॥

जो सब विद्वान् लोग कामज और क्रोधजों का मूल जानते हैं कि जिससे वे सब दुर्गुण मनुष्य को प्राप्त होते हैं उस लोभ को प्रयत्नसे छोड़े ॥७॥

कामके व्यसनोंमें बड़े दुर्गुण एक मद्यादि अर्थात् मदकारक द्रव्यों का सेवन, दूसरा पासों आदिसे जुआ खेलना, तीसरा

स्त्रियोंका विशेष सङ्ग, चौथा मृगया खेलना ये चार महादुष्ट व्यसन हैं ॥८॥

और क्रोधजोंमें विना अपराध दण्ड देना, कठोर वचन बोलना और धनादिका अन्यायमें खर्च करना ये तीन क्रोधसे उत्पन्न हुए बड़े दुःखदायक दोष हैं ॥९॥

जो ये ७ दुर्गुण दोनों कामज और क्रोधज दोषों में गिने हैं इनमें से पूर्व २ अर्थात् व्यर्थ व्ययसे कठोर वचन, कठोर वचन से (अन्याय) अन्याय से दण्ड देना, इससे मृगया खेलना, इस से स्त्रियों का अत्यन्त सङ्ग, इससे जुआ अर्थात् द्यूत करना और इससे भी मद्यादि सेवन करना बड़ा व्यसन है ॥१०॥

इसमें यह निश्चय है कि दुष्ट व्यसनमें फंसनेसे मर जाना अच्छा है क्योंकि जो दुष्टाचारी पुरुष है वह अधिक जियेगा तो अधिक २ पाप करके नीच २ गति अर्थात् अधिक २ दुःखको प्राप्त हो जायगा और जो किसी व्यसन में नहीं फंसा वह मर भी जायगा तो भी सुखको प्राप्त होता जायगा इसलिये विशेष राजा और सब मनुष्योंको उचित है कि कभी मृगया और मद्यपानादि दुष्ट कामोंमें न फंसें और दुष्ट व्यसनोंसे पृथक होकर धर्मयुक्त गुण कर्म स्वभावोंमें सदा वर्त्तके अच्छे अच्छे काम किया करें ॥११॥

मंत्रियों के गुण

मौलान् शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान् ।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥१॥

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्नु राज्यं महोदयम् ॥२॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥३॥
तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक् ।
समस्तानाञ्च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥४॥
अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन् प्रज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरीक्षितान् ॥५॥
निवर्त्तेतास्य यावद्भिरितिकर्तव्यता नृभिः ।
तावतोऽतन्द्रितान् दक्षान् प्रकुर्वीत विचक्षणान् ॥६॥
तेषामर्थे नियुञ्जीत शूरान् दक्षान् कुलोद्गतान् ।
शुचीनाकरकर्मान्ते भीरूनन्तर्निवेशने ॥७॥

मनु [७।५४-५७।६०-६२।]

स्वराज्य स्वदेश में उत्पन्न हुए,वेदादि शास्त्रों के जाननेवाले, शूरवीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो और कुलीन, अच्छे प्रकार सुपरीक्षित, सात व आठ उत्तम धार्मिक चतुर "सचिवान्" अर्थात् मन्त्री करे ॥१॥

क्योंकि विशेष सहाय के बिना जो सुगम कर्म है वह भी एक से करने में कठिन हो जाता है जब ऐसा न है तो महा राज्य-

कर्म एक से कैसे हो सकता है ? इसलिये एक को राजा और एक की बुद्धि पर राज्य के कार्य्य का निर्भर रखना बहुत ही बुरा काम है ॥ २ ॥

इससे सभापति को उचित है कि नित्यप्रति उन राज्यकर्मों में कुशल विद्वान् मन्त्रियों के साथ सामान्य करके किसी से (सन्धि) मित्रता किसीसे (विग्रह) विरोध (स्थान) स्थिति समय को देखके चुपचाप रहना अपने राज्य की रक्षा करके बैठे रहना (समुदयम्) जब अपना उदय अर्थात् वृद्धि हो तब दुष्ट शत्रु पर चढ़ाई करना (गुप्तिम्) मूल राजसेना कोश आदि की रक्षा (लब्धप्रशमनानि) जो २ देश प्राप्त हों उस २ में शान्तिस्थापन उपद्रवरहित करना इन छः गुणों का विचार नित्यप्रति किया करें ॥ ३ ॥

विचार से करना कि उन सभासदों का पृथक् २ अपना २ विचार और अभिप्राय को सुनकर बहुपक्षानुसार कार्यों में जो कार्य अपना और अन्य का हितकारक हो वह करने लगना ॥४॥

अन्य भी पवित्रात्मा, बुद्धिमान, निश्चित बुद्धि, पदार्थों के संग्रह करने में अति चतुर, सुपरीक्षित मन्त्री करे ॥५॥

जितने मनुष्यों से राज्यकार्य्य सिद्ध हो सकें उतने आलस्य-रहित बलवान् और बड़े २ चतुर प्रधान पुरुषों को अधिकारी अर्थात् नौकर करे ॥ ६ ॥

इनके आधीन शूरवीर बलवान् कुलोत्पन्न पवित्र भृत्यों को

बड़े २ कर्मों में और भीरु डरने वालों को भीतर के कर्मों में नियुक्त करे ॥७॥

राजदूत

दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम् ।
इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम् ॥१॥
अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् ।
वपुष्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥२॥

मनु० [७,६३-६४]

जो प्रशंसित कुल में उत्पन्न चतुर, पवित्र, हावभाव और चेष्टा से भीतर हृदय और भविष्यत् में होने वाली बात को जानने हारा सर्व शास्त्रों में विशारद चतुर है, उस दूत को भी रक्खे ॥१॥

वह ऐसा हो कि राज काममें अत्यन्त उत्साह प्रीतियुक्त, निष्कपटी, पवित्रात्मा, चतुर, बहुत समय की बात को भी न भूलने वाला, देश और कालानुकूल वर्त्तमान का कर्त्ता सुन्दर रूपयुक्त, निर्भय और बड़ा वक्ता हो वही राजा का दूत होने में प्रशस्त है ॥२॥

किस २ को क्या २ अधिकार देना योग्य है:—

कार्य विभाजन

अमात्ये दण्ड आयत्तो दण्डे वैनयिकी क्रिया ।
नृपतौ कोशराष्ट्रे च दूते सन्धिविपर्ययौ ॥१॥
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान् ।
दूतस्तत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन वा न वा ॥२॥
बुद्ध्वा च सर्वं तत्वेन परराजचिकीर्षितम् ।
तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथात्मानं न पीडयेत् ॥३॥
धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।
नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥४॥
एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।
शतं दश सहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते ॥५॥
तत्स्यादायुधसम्पन्नं धनधान्येन वाहनैः ।
ब्राह्मणैः शिल्पिभिर्यन्त्रैर्यवसेनोदकेन च ॥६॥
तस्य मध्ये सुपर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः ।
गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्रं जलवृक्षसमन्वितम् ॥७॥
तदध्यास्योद्वहेद्भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।
कुले महति सम्भूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम् ॥८॥
पुरोहितं प्रकुर्वीत वृणुयादेव चर्त्विजम् ।

तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्य्युर्वै तानि कानि च ॥६॥

मनु० [७। ६५ । ६६ । ६८ । ७० । ७४—७८]

अमात्यको दण्डाधिकार, दण्डमें विनय क्रिया अर्थात् जिससे अन्यायरूप दण्ड न होने पावे, राजाके आधीन कोश और राजकार्य्य तथा सभाके आधीन सब कार्य्य और दूतके आधीन किसीसे मेल वा विरोध करना अधिकार देवे ॥ १ ॥

दूत उसको कहते हैं जो फूट में मेल और मिले हुए दुष्टों को फोड़ तोड़ देवे । दूत वह कर्म करे जिससे शत्रुओंमें फूट पड़े ॥ २ ॥

वह सभापति और सब सभासद् वा दूत आदि यथार्थ से दूसरे विरोधी राजा के राज्यका अभिप्राय जानके वैसा प्रयत्न करें कि जिससे अपने को पीड़ा न हो ॥ ३ ॥

इसलिये सुन्दर जङ्गल धन धान्ययुक्त देशमें (धनुर्दुर्गम्) धनुर्धारी पुरुषोंसे गहन (महीदुर्गम्) मट्टीसे किया हुआ (अब्दुर्गम्) जलसे भरा हुआ । (वार्क्षम्) अर्थात् चारों और वन (नृदुर्गम्) चारों ओर सेना रहे (गिरिदुर्गम्) अर्थात् चारों ओर पहाड़ों के बीच में कोट बना के मध्यमें नगर बनावे ॥ ४ ॥

और नगरके चारों ओर (प्राकार) प्रकोट बनावे, क्योंकि उसमें स्थित हुआ एक वीर धनुर्धारी शस्त्रयुक्त पुरुष सौके साथ सौ दश हजारके साथ युद्ध कर सकते हैं इसलिये अवश्य दुर्ग का बनाना उचित है ॥ ५ ॥

वह दुर्ग शस्त्रास्त्र, धन, धान्य, वाहन, ब्राह्मण जो पढ़ाने उपदेश करने हारे हों (शिल्पि) कारीगर, यन्त्र नाना प्रकार की कला, (यवसेन) चारा घास और जल आदिसे सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण हो ॥६॥

उसके मध्यमें जल वृक्ष पुष्पादिक सब प्रकारसे रक्षित सब ऋतुओं में सुखकारक श्वेतवर्ण अपने लिये घर जिसमें सब राजकार्य का निर्वाह हो वैसा बनवावे ॥७॥

इतना अर्थात् ब्रह्मचय से विद्या पढ़के यहां तक राजकाम करके पश्चात् सौन्दर्य्यरूप गुणयुक्त हृदयको अतिप्रिय बड़े उत्तम कुल में उत्पन्न सुन्दर लक्षणयुक्त अपने क्षत्रियकुल की कन्या जो कि अपने सदृश विद्यादि गुण कर्म स्वभाव में हो उस एक ही स्त्री के साथ विवाह करे दूसरी सब स्त्रियों को अगम्य समझ कर दृष्टि से भी न देखे ॥८॥

पुरोहित और ऋत्विज् का स्वीकार इसलिये करे कि वे अग्निहोत्र और पक्षेष्टि आदि सब राजघर के कर्म किया करें और आप सर्वदा राजकार्य में तत्पर रहे अर्थात् यही राजा का सन्ध्योपासनादि कर्म है जो रात दिन राजकार्य में प्रवृत्त रहना और कोई राजकाम बिगड़ने न देना ॥९॥

राजकोष

सांवत्सरिकमाप्तैश्च राष्ट्रादाहारयेद्बलिम् ।
स्याच्चाम्नायपरो लोके वर्त्तेत पितृवन्नृषु ॥१॥

अध्यक्षान् विविधान् कुर्यात् तत्र तत्र विपश्चितः ।
तेऽस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नृणां कार्याणि कुर्वताम् ॥२॥
आवृत्तानां गुरुकुलाद्विप्राणां पूजको भवेत् ।
नृपाणामक्षयो ह्येष निधिर्ब्राह्मो विधीयते ॥ ३ ॥

मनु० ॥ ७ । ८०-८२ ॥

वार्षिक कर आप्तपुरुषों के द्वारा ग्रहण करे और जो सभा-पति रूप राजा आदि प्रधान पुरुष हैं वे सब सभा वेदानुकूल होकर प्रजा के साथ पिता समान वर्तें ॥१॥

उस राज्यकार्य में विविध प्रकारके अध्यक्षों को सभा नियत करे इनका यही काम है जितने २ जिस २ काम में राजपुरुष हों वे नियमानुसार वर्त्त कर यथावत् काम करते हैं वा नहीं जो यथावत् करें तो उनका सत्कार और जो विरुद्ध करें तो उनको यथावत् दण्ड किया करें ॥२॥

सदा जो राजाओं का वेदप्रचाररूप अक्षय कोष है इसके प्रचार के लिये जो कोई यथावत् ब्रह्मचर्य से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर गुरुकुल से आवे उनका सत्कार राजा और सभा यथावत् करें तथा उनका भी जिनके पढ़ाये विद्वान् होवें ॥३॥

क्षात्रधर्म

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः पालयन् प्रजाः ।
न निवर्त्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥१॥

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।
युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥२॥

न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृताञ्जलिम् ।
नामुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम् ॥३॥

न सुप्तं न विसन्नाहं न नग्नं न निरायुधम् ।
नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम् ॥ ४ ॥

नायुधव्यसनं प्राप्तं नार्त्तं नातिपरीक्षितम् ।
न भीतं न परावृत्तं सतां धर्ममनुस्मरन् ॥५॥

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परैः ।
भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥६॥

यच्चास्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् ।
भर्त्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥ ७ ॥

रथाश्वं हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः ।
सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत् । ८ ॥

राज्ञश्च दद्युरुद्धारमित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।
राज्ञा च सर्वयोधेभ्यो दातव्यमपृथग्जितम् ॥ ९ ॥

मनु० (७ । ८७ । ८९ । ९१-९७)

इस बात के करने से राज्य में विद्या की उन्नति होकर अत्यन्त उन्नति होती है जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राज़ा को अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे तो क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करके संग्राम में जाने से कभी निवृत्त न हो अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे जिससे अपना ही विजय हो ॥१॥

जो संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग जितना अपना सामर्थ्य हो विना डर पीठ न दिखा युद्ध करते हैं वे सुख को प्राप्त होते हैं इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी २ शत्रु को जीतने के लिये उनके सामने से छिप जाना उचित है क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके वैसे काम करें जैसा सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है वैसे मूर्खता से नष्ट भ्रष्ट न हो जावें ॥२॥

युद्ध समय में न इधर उधर खड़े, न नपुन्सक, न हाथ जोड़े हुए न जिसके शिर के बाल खुल गये हों. न बैठे हुए, न "मैं तेरे शरण में हूँ" ऐसे को ॥३॥

न सोते हुए, न मूर्छा को प्राप्त हुए, न नग्न हुए, न आयुध से रहित, न युद्ध करते हुओं को देखने वालों, न शत्रु के साथी ॥४॥

न आयुध के प्रहार से पीड़ा को प्राप्त हुए, न दुःखी, न अत्यन्त घायल, न डरे हुए और न पलायन करते हुए पुरुष को, सत्पुरुषों के धर्म का स्मरण करते हुए योद्धा लोग कभी मारें

किन्तु उनको पकड़ के जो अच्छे हों बन्दीगृह में रख दे और भोजन आच्छादन यथावत देवे और जो घायल हुए हों उनकी औषधादि विधिपूर्वक करे। न उनको चिढ़ावे न दुःख देवे। जो उनके योग्य काम हो करावे। विशेष इस पर ध्यान रक्खे कि स्त्री, बालक, वृद्ध और आतुर तथा शोकयुक्त पुरुषों पर शस्त्र कभी न चलावे। उनके लड़के बालों को अपने सन्तानवत् पाले और स्त्रियों को भी पाले। उनको अपनी बहिन और कन्या के समान समझे, कभी विषयासक्ति की दृष्टि से भी न देखे। जब राज्य अच्छे प्रकार जम जाय और जिनमें पुनः २ युद्ध करने की शङ्का न हो उनको सत्कारपूर्वक छोड़कर अपने २ घर वा देश को भेज देवे और जिन से भविष्यत् काल में विघ्न होना सम्भव हो उनको सदा कारागार में रक्खे ॥५॥

और जो पलायन अर्थात् भागे और डरा हुआ भृत्य शत्रुओं में मारा जाय वह उस स्वामी के अपराध को प्राप्त होकर दण्डनीय होवे ॥६॥

और जो उसकी प्रतिष्ठा है जिससे इस लोक और परलोक में सुख होने वाला था उसको उसका स्वामी ले लेता है जो भागा हुआ मारा जाय उसको कुछ भी सुख नहीं होता उसका पुण्य-फल सब नष्ट हो जाता और उस प्रतिष्ठा को वह प्राप्त हो जिस ने धर्म से यथावत् युद्ध किया हो ॥७॥

इस व्यवस्था को कभी न तोड़े कि जो २ लड़ाई में जिस जिस भृत्य वा अध्यक्ष ने रथ, घोड़े, हाथी, छत्र, धन, धान्य,

गाय आदि पशु और स्त्रियां तथा अन्य प्रकार के सब द्रव्य और घी, तेल आदि के कुप्पे जीते हों वही उस का ग्रहण करे ॥८॥

परन्तु सेनास्थ जन भी उन जीते हुए पदार्थों में से सोलहवां भाग राजा को देवें और राजा भी सेनास्थ योद्धाओं को उस धन में से जो सब ने मिलके जीता हो, सोलहवां भाग देवे। और जो कोई युद्ध में मर गया हो उसकी स्त्री और सन्तान को उसका भाग देवे उसकी स्त्री तथा असमर्थ लड़कों का यथावत् पालन करे। जब उसके लड़के समर्थ हो जावें तब उनको यथा-योग्य अधिकार देवे। जो कोई अपने राज्य की वृद्धि, प्रतिष्ठा, विजय और आनन्दवृद्धि की इच्छा रखता हो वह इस मर्य्यादा का उल्लंघन न करे ॥९॥

राज्य प्रबन्ध

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः ।
रक्षितं वर्द्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत् ॥१॥
अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्धं रक्षेदवेक्षया ।
रक्षितं वर्द्धयेद् वृद्ध्या वृद्धं दानेन निक्षिपेत् ॥२॥
अमाययैव वर्त्तेत न कथंचन मायया।
बुध्येतारिप्रयुक्तां मायान्नित्यं स्वसंवृतः ॥३॥

नास्य छिद्रं परो विद्या च्छिद्रं विद्यात्परस्य तु ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥४॥
बकवच्चिन्तयेदर्थान् सिंहवच्च पराक्रमेत् ।
वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत् ॥५॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः ।
तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः ॥६॥
यथोद्धरति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति ।
तथा रक्षेन्नृपो राष्ट्रं हन्याच्च परिपन्थिनः ॥७॥
मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद्भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥८॥
शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणिनां यथा ।
तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकर्षणात् ॥९॥
राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत् ।
सुसंगृहीतराष्ट्रो हि पार्थिवः सुखमेधते ॥१०॥
द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्ट्रस्य संग्रहम् ॥११॥
ग्रामस्याधिपतिं कुर्य्याद्दशग्रामपतिं तथा ।
विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिमेव च ॥ १२ ॥

ग्रामे दोषान्समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम् ।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिनम् ॥ १३ ॥
विंशतीशस्तु तत्सर्वं शतेशाय निवेदयेत् ।
शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्रपतये स्वयम् ॥ १४ ॥
तेषां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि ।
राज्ञोऽन्यः सचिवः स्निग्धस्तानि पश्येदतन्द्रितः ॥ १५॥
नगरे नगरे चैकं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम् ।
उच्चैः स्थानं घोररूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम् ॥ १६ ॥
स ताननुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम् ।
तेषां वृत्तं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रेषु तच्चरैः ॥ १७ ॥
राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शठाः ।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥ १८ ॥
ये कार्यिकेभ्योऽर्थमेव गृह्णीयुः पापचेतसः ।
तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्प्रवासनम् ॥ १९ ॥

मनु० [७॥ ९९ । १०१ । १०४-१०७ । ११०-११७ । १२०-१२४]

राजा और राजसभा अलब्धकी प्राप्तिकी इच्छा प्राप्तकी प्रयत्नसे रक्षा करे, रक्षितको बढ़ावे और बढ़े हुए धनको वेदविद्या, धर्म प्रचार, विद्यार्थी, वेदमार्गोपदेशक तथा असमर्थ अनाथोंके पालनमें लगावे ॥१॥

इस प्रकार के पुरुषार्थ के प्रयोजन को जाने। आलस्य छोड़कर इसका भलीभांति नित्य अनुष्ठान करे। दण्ड से अप्राप्तकी प्राप्तकी इच्छा, नित्य देखने से प्राप्तकी रक्षा, रक्षित की वृद्धि अर्थात् व्याजादिसे बढ़ावे और बढ़े हुए धन को पूर्वोक्त मार्ग में नित्य व्यय करे ॥२॥

कदापि किसी के साथ छल से न वर्ते किन्तु निष्कपट होकर सबसे वर्त्ताव रक्खे और नित्य प्रति अपनी रक्षा करके शत्रु के किये हुये छल को जान के निवृत्त करे ॥३॥

कोई शत्रु अपने छिद्र अर्थात् निर्बलताको न जान सके और स्वयं शत्रुके छिद्रोंको जानता रहे जैसे कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है वैसे शत्रुके प्रवेश करनेके छिद्रको गुप्त रक्खे ॥४॥

जैसे बगुला ध्यानावस्थित होकर मच्छके पकड़नेको ताकता है वैसे अर्थसंग्रहका विचार किया करे, द्रव्यादि पदार्थ और बलकी वृद्धि कर शत्रु को जीतने के लिए सिंह के समान पराक्रम करे, चीता के समान छिपकर शत्रुओंको पकड़े और समीपमें आये बलवान् शत्रुओं से ससाके समान दूर भाग जाय और पश्चात् उनको छलसे पकड़े ॥५॥

इस प्रकार विजय करनेवाले सभापति के राज्य में जो परिपन्थी अर्थात् डाकू लुटेरे हों उनको (साम) मिला लेना (दाम) कुछ देकर (भेद) फोड़ तोड़ करके वशमें करे और जो इनसे वशमें न हों तो अतिकठिन दंड से वशमें करे ॥६॥

जैसे धान्यका निकालने वाला छिलकोंको अलग कर धान्यकी रक्षा करता अर्थात टूटने नहीं देता है वैसे राजा डाकू चोरोंको मारे और राज्यकी रक्षा करे ॥ ७ ॥

जो राजा मोहसे, अविचारसे अपने राज्यको दुर्बल करता है वह राज्य और अपने बन्धु सहित जीवनसे पूर्व ही शीघ्र नष्ट भ्रष्ट हो जाता है ॥ ८ ॥

जैसे प्राणियोंके प्राण शरीरोंको कृषित करनेसे क्षीण हो जाते हैं वैसे ही प्रजाओंको दुर्बल करनेसे राजाओंके प्राण अर्थात् बलादि बन्धुसहित नष्ट होजाते हैं ॥ ९ ॥

इसलिये राजा और राजसभा राजकार्य की सिद्धि के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे राजकार्य यथावत सिद्ध हों जो राजा राज्यपालन में सब प्रकार तत्पर रहता है उसको सुख सदा बढ़ता है ॥१० ॥

इसलिये दो, तीन, पांच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्यस्थान रक्खे जिसमें यथायोग्य भृत्य अर्थात् कामदार आदि राजपुरुषों को रखकर सब राज्य के कार्यों को पूर्ण करे ॥ ११ ॥

एक २ ग्राम में एक २ प्रधान पुरुष को रक्खे उन्हीं दश ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामोंके ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामोंके उपर चौथा और उन्हीं सहस्र ग्रामोंके उपर पांचवां पुरुष रक्खे अर्थात् जैसे आजकल एक ग्राम में एक पटवारी, उन्हीं दश ग्रामोंमें एक थाना और दो थानों में एक बड़ा थाना

और उन पांच थानों पर एक तहसील और दश तहसीलों पर एक जिला नियत किया है यह वही अपने मनु आदि धर्मशास्त्र से राजनीति का प्रकार लिया है ॥१२॥

इसी प्रकार प्रबन्ध करे और आज्ञा देवे कि वह एक २ ग्रामों का पति ग्रामों में नित्य प्रति जो जो दोष उत्पन्न हो उन २ को गुप्तता से दश ग्राम के पति को विदित करदे और वह दश ग्रामाधिपति उसी प्रकार बीस ग्राम के स्वामी को दश ग्रामों का वर्त्तमान नित्यप्रति जना देवे ॥१३॥

और बीस ग्रामों का अधिपति बीस ग्रामों के वर्त्तमान को शतग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन करे वैसे सौ २ ग्रामों के पति आप सहस्राधिपति अर्थात् हज़ार ग्रामों के स्वामी को सौ २ ग्रामों के वर्त्तमान को प्रतिदिन जनाया करें। और बीस २ ग्राम के पांच अधिपति सौ सौ ग्राम के अध्यक्ष को और वे सहस्र २ के दश अधिपति दश सहस्र के अधिपति को और लक्ष ग्रामों की राजसभा को प्रतिदिन का वर्त्तमान जनाया करें और वे सब राजसभा महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ति महाराजसभा में सब भूगोल का वर्त्तमान जनाया करें ॥१४॥

और एक २ दश २ सहस्र ग्रामों पर दो सभापति वैसे करें जिनमें एक राजसभा में दूसरा अध्यक्ष आलस्य छोड़कर सब न्यायाधीशादि राजपुरुषों के कामों को सदा घूमकर देखते रहें ॥१५॥

बड़े २ नगरों में एक विचार करने वाली सभा का सुन्दर उच्च और विशाल जैसा कि चन्द्रमा है वैसा एक २ घर बनावें उसमें बड़े २ विद्यावृद्ध कि जिन्होंने विद्या से सब प्रकार की परीक्षा की हो वे बैठकर विचार किया करें जिन नियमों से राजा और प्रजा की उन्नति हो वैसे २ नियम और विद्या प्रकाशित किया करें ॥१६॥

जो नित्य घूमने वाला सभापति हो उसके आधीन सब गुप्त-चर अर्थात् दूतों को रक्खे जो राजपुरुष और भिन्न २ जाति के रहैं उनसे सब राज और प्रजा पुरुषों के सब दोष और गुण गुप्त रीति से जाना करे जिनका अपराध हो उनको दण्ड और जिनका गुण हो उनकी प्रतिष्ठा सदा किया करे ॥१७॥

राजा जिनको प्रजा की रक्षा का अधिकार देवे वे धार्मिक सुपरीक्षित विद्वान् कुलीन हों उनके आधीन प्रायः शठ और पर-पदार्थ हरनेवाले चोर डाकुओं को भी नौकर रखके उनको दुष्ट कर्म से बचाने के लिये राजा के नौकर करके उन्हीं रक्षा करने वाले विद्वानों के स्वाधीन करके उनसे इस प्रजा की रक्षा यथावत् करे ॥१८॥

जो राजपुरुष अन्याय से वादी प्रतिवादी से गुप्त धन लेके पक्षपात से अन्याय करे उसका सर्वस्व हरण करके यथायोग्य दण्ड देकर ऐसे देश में रक्खे कि जहां से पुनः लौटकर न आ सके क्योंकि यदि उसको दण्ड न दिया जाय तो उसको देखके अन्य राजपुरुष भी ऐसे दुष्ट काम करें और दण्ड दिया जाय

तो बचे रहैं, परन्तु जितने से उन राजपुरुषों का योगक्षेम भली भांति हो और वे भलीभांति धनाढ्य भी हों उतना धन वा भूमि राज्य की ओर से मासिक वा वार्षिक अथवा एक वार मिला करे और जो वृद्ध हों उनको भी आधा मिला करे परन्तु यह ध्यान में रक्खे कि जब तक वे जियें तब तक वह जीविका बनी रहे पश्चात् नहीं, परन्तु इनके सन्तानों का सत्कार वा नौकरी उनके गुण के अनुसार अवश्य देवे। और जिसके बालक जब तक समर्थ हों और उनकी स्त्री जीती हो तो उन सबके निर्वाहार्थ राजकी ओर से यथायोग्य धन मिला करे परन्तु जो उसकी स्त्री वा लड़के कुकर्मी होजायें तो कुछ भी न मिले ऐसी नीति राजा बराबर रक्खे ॥१६॥

कर

यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम्।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ॥१॥
यथाल्पाऽल्पमदन्त्याऽऽद्यं वार्य्योकोवत्सषट्पदाः।
तथाऽल्पाऽऽल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः ॥२॥
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।
उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत् ॥३॥
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्च स्यात्कार्यं वीक्ष्य महीपतिः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव राजा भवति सम्मतः ॥४॥

एवं सर्वं विधायेदमिति कर्त्तव्यमात्मनः ।
युक्तश्चैवाप्रमत्तश्च परिरक्षेदिमाः प्रजाः ॥५॥
विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः ।
सम्पश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥६॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥७॥

मनु० [७॥ १२८ । १२९ । १३९ । १४० । १४२--१४४]

जैसे राजा और कर्मों का कर्त्ता राजपुरुष वा प्रजाजन सुख रूप फल से युक्त होवे वैसे विचार करके राजा तथा राजसभा राज्य में कर स्थापन करे ॥ १ ॥

जैसे जोंक बछड़ा और भंवरा थोड़े २ भोग्य पदार्थको ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा २ वार्षिक कर लेवे ॥ २ ॥

अतिलोभ से अपने वा दूसरों के सुख के मूलको उच्छिन्न अर्थात् नष्ट कदापि न करे क्योंकि जो व्यवहार और सुख के मूलका छेदन करता है वह अपने [को] और उनको पीड़ा ही देता है ॥ ३ ॥

जो महीपति कार्य्य को देख के तीक्ष्ण और कोमल भी होवे वह दुष्टों पर तीक्ष्ण और श्रेष्ठों पर कोमल रहने से राजा अतिमाननीय होता है ॥ ४ ॥

इस प्रकार सब राज्य का प्रबन्ध करके सदा इसमें युक्त और प्रमाद रहित होकर अपनी प्रजाका पालन निरन्तर करे ॥५॥

जिस भृत्यसहित देखते हुए राजा के राज्य में से डाकू लोग रोती विलाप करती प्रजा के पदार्थ और प्राणों को हरते रहते हैं वह जानो भृत्य अमात्य सहित मृतक है जीता नहीं और महा दुःख का पाने वाला है ॥ ६ ॥

इसलिये राजाओं का प्रजा पालन करना ही परम धर्म है और जो मनुस्मृति के सप्तमाध्याय में कर लेना लिखा है और जैसा सभा नियत करे उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है इससे विपरीत दुःख को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम् ॥१॥
तत्र स्थिताः प्रजाः सर्वाः प्रतिनन्द्य विसर्जयेत् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वाः मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥२॥
गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः ॥३॥
यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः ।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुंक्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः ॥४॥

मनु०[७ । १४५—१४८]

जब पिछली प्रहर रात्रि रहे तब उठ शौच और सावधान होकर परमेश्वरका ध्यान अग्निहोत्र धार्मिक विद्वानोंका सत्कार और भोजन करके भीतर सभामें प्रवेश करे ॥ १ ॥

वहां खड़ा रहकर जो प्रजाजन उपस्थित हों उनको मान्य दे और उनको छोड़कर मुख्यमन्त्रीके साथ राज्यव्यवस्थाका विचार करे ॥ २॥

पश्चात् उसके साथ घूमनेको चला जाय पर्वतकी शिखर अथवा एकान्त घर वा जंगल जिसमें एक शलाका भी न हो वैसे एकान्त स्थानमें बैठकर विरुद्ध भावनाको छोड़ मन्त्रीके साथ विचार करे ॥ ३ ॥

जिस राजाके गूढ़ विचारको अन्य जन मिलकर नहीं जान सकते अर्थात् जिसका विचार गम्भीर शुद्ध परोपकारार्थ सदा गुप्त रहे वह धनहीन भी राजा सब पृथिवीके राज्य करनेमें समर्थ होता है इसलिये अपने मनसे एक भी काम न करे कि जब तक सभासदोंकी अनुमति न हो ॥ ४ ॥

राजनीति

आसनं चैव यानं च संधिं विग्रहमेव च ।
कार्यं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ॥१॥

संधिं तु द्विविधं विद्याद्राजा विग्रहमेव च ।
उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥२॥

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च ।
तथा त्वायतिसंयुक्तः संधिर्ज्ञेयो द्विलक्षणः ॥३॥

स्वयंकृतश्च कार्यार्थमकाले काल एव वा ।
मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः स्मृतः ॥४॥
एकाकिनश्चात्ययिके कार्ये प्राप्ते यदृच्छया ।
संहतस्य च मित्रेण द्विविधं यानमुच्यते ॥५॥
क्षीणस्य चैव क्रमशो दैवात्पूर्वकृतेन वा ।
मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम् ॥६॥
बलस्य स्वामिनश्चैव स्थितिः कार्यार्थसिद्धये ।
द्विविधं कीर्त्यते द्वैधं षाड्गुण्यगुणवेदिभिः ॥७॥
अर्थसंपादनार्थं च पीड्यमानः स शत्रुभिः ।
साधुषु व्यपदेशार्थं द्विविधः संश्रयः स्मृतः ॥८॥
यदावच्छेदायत्यामाधिक्यं ध्रुवमात्मनः ।
तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा सन्धि समाश्रयेत् ॥९॥
यदा प्रहृष्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीभृशम् ।
अत्युच्छ्रितं तथात्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम् ॥१०॥
यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं बलं स्वकम् ।
परस्य विपरीतं च तदा यायाद्रिपुं प्रति ॥११॥
यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च ।
तदासीत प्रयत्नेन शनकैः सान्त्वयन्नरीन् ॥१२॥

मन्येतारिं यदा राजा सर्वथा बलवत्तरम् ।
तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः ॥१३॥

यदा परबलानां तु गमनीयतमो भवेत् ।
तदा तु संश्रयेत् क्षिप्रं धार्मिकं बलिनं नृपम् ॥१४॥

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योऽरिबलस्य च ।
उपसेवेत तं नित्यं सर्वयत्नैर्गुरुं यथा ॥१५॥

यदि तत्रापि संपश्येद्दोषं संश्रयकारितम् ।
सुयुद्धमेव तत्राऽपि निर्विशंकः समाचरेत् ॥१६॥

मनु० [७ ॥ १६१-१७६]

सब राजादि राजपुरुषोंको यह बात लक्ष्यमें रखने योग्य है जो (आसन) स्थिरता (यान) शत्रुसे लड़ने के लिये जाना (सन्धि) उनसे मेल करलेना (विग्रह) दुष्ट शत्रुओंसे लड़ाई करना (द्वैध०) दो प्रकार की सेना करके स्वविजय कर लेना और (संश्रय) निर्बलतामें दूसरे प्रबल राजाका आश्रय लेना ये छः प्रकारके कर्म यथायोग्य कार्य्यको विचार कर उसमें युक्त करना चाहिये ॥ १ ॥

राजा जो संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय दो २ प्रकारके होते हैं उनको यथावत् जाने ॥ २ ॥

(सन्धि) शत्रुसे मेल अथवा उससे विपरीतता करे

परन्तु वर्त्तमान और भविष्यत्में करनेके काम बराबर करता जाय यह दो प्रकारका मेल कहाता है ।। ३ ।।

(विग्रह) कार्य्यसिद्धिके लिये उचित समय वा अनुचित समयमें स्वयं किया वा मित्रके अपराध करनेवाले शत्रु के साथ विरोध दो प्रकार से करना चाहिये ।।४।।

(यान) अकस्मात् कोई कार्य्य प्राप्त होनेमें एकाकी वा मित्रके साथ मिलके शत्रुकी ओर जाना यह दो प्रकारका गमन कहाता है ।।५।।

स्वयं किसी प्रकार क्रमसे क्षीण होजाय अर्थात् निर्बल होजाय अथवा मित्रके रोकनेसे अपने स्थानमें बैठ रहना यह दो प्रकारका आसन कहाता है ।। ६ ।।

कार्य्यसिद्धिके लिये सेनापति और सेनाके दो विभाग करके विजय करना दो प्रकारका द्वैध कहाता है ।। ७ ।।

एक किसी अर्थकी सिद्धिके लिये किसी बलवान् राजा वा किसी महात्माका शरण लेना जिससे शत्रुसे पीड़ित न हो दो प्रकारका आश्रय लेना कहाता है ।। ८ ।।

जब यह जान ले कि इस समय युद्ध करनेसे थोड़ी पीड़ा प्राप्त होगी और पश्चात् करनेसे अपनी वृद्धि और विजय अवश्य होगी तब शत्रुसे मेल करके उचित समय तक धीरज करे ।। ९ ।।

जब अपनी सब प्रजा वा सेना अत्यन्त प्रसन्न उन्नतिशील

और श्रेष्ठ जाने, वैसे अपनेको भी समझे तभी शत्रु से विग्रह (युद्ध) कर लेवे ॥ १० ॥

जब अपने बल अर्थात् सेनाको हर्ष और पुष्टियुक्त प्रसन्न भावसे जाने और शत्रुका बल अपने से विपरीत निर्बल हो जावे तब शत्रुकी ओर युद्ध करनेके लिये जावे ॥ ११ ॥

जब सेना बल वाहनसे क्षीण होजाय तब शत्रुओंको धीरे २ प्रयत्न से शान्त करता हुआ अपने स्थानमें बैठा रहे ॥ १२ ॥

जब राजा शत्रुको अत्यन्त बलवान् जाने तब द्विगुण वा दो प्रकार की सेना करके अपना कार्य सिद्ध करे ॥ १३ ॥

जब आप समझ लेवे कि अब शीघ्र शत्रुओंकी चढ़ाई मुझपर होगी तभी किसी धार्मिक बलवान् राजाका आश्रय शीघ्र ले लेवे ॥१४॥

जो प्रजा और अपनी सेना शत्रु के बलका निग्रह करे अर्थात् रोके उसकी सेवा सब यत्नोंसे गुरुके सदृश नित्य किया करे ॥ १५ ॥

जिसका आश्रय लेवे उस पुरुषके कर्मोंमें दोष देखे तो वहां भी अच्छे प्रकार युद्ध ही को निःशंक होकर करे ॥१६॥

विदेश नीति

जो धार्मिक राजा हो उससे विरोध कभी न करे किन्तु उससे सदा मेल रक्खे और जो दुष्ट प्रबल हो उसीके जीतनेके लिये ये पूर्वोक्त प्रयोग करना उचित है।

सर्वोपायैस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः ।
यथास्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ॥१॥

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत् ।
अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषौ च तत्त्वतः ॥२॥

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्वे क्षिप्रनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्नाभिभूयते ॥३॥

यथैनं नाभिसंदध्युर्मित्रोदासीनशत्रवः ।
तथा सर्वं संविदध्यादेष सामासिको नयः ॥४॥

नीति का जानने वाला पृथिवीपति राजा जिस प्रकार इसके मित्र उदासीन (मध्यस्थ) और शत्रू अधिक न हों ऐसे सब उपायों से वर्त्ते ॥

सब कार्यों का वर्त्तमान में कर्तव्य और भविष्यत् में जो २ करना चाहिये और जो २ काम कर चुके उन सब के यथार्थता से गुण दोषों को विचार करे ॥२॥

पश्चात् दोषों के निवारण और गुणों की स्थिरता में यत्न करे जो राजा भविष्यत् अर्थात् आगे करने वाले कर्मों में गुण दोषों का ज्ञाता वर्तमान में तुरन्त निश्चय का कर्ता और किये हुए कार्यों में शेष कर्तव्य को जानता है वह शत्रुओं से पराजित कभी नहीं होता ॥३॥

सब प्रकार से राजपुरुष विशेष सभापति राजा ऐसा प्रयत्न करे कि जिस प्रकार राजादि जनों के मित्र उदासीन और शत्रु को वश में करके अन्यथा न करावे ऐसे मोह में कभी न फँसे यही संक्षेप से विनय अर्थात् राजनीति कहाती है ॥४॥

युद्धनीति

कृत्वा विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि ।
उपगृह्यास्पदं चैव चारान् सम्यग्विधाय च ॥१॥

संशोध्य त्रिविधं मार्गं षड्विधं च बलं स्वकम् ।
सांपरायिककल्पेन यायादरिपुरं शनैः ॥२॥

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढे युक्ततरो भवेत् ।
गतप्रत्यागते चैव स हि कष्टतरो रिपुः ॥३॥

दण्डव्यूहेन तन्मार्गं यायात्तु शकटेन वा ।
वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरुडेन वा ॥४॥

यतश्च भयमाशंकेत्ततो विस्तारयेत् बलम् ।
पद्मेन चैव व्यूहेन निविशेत तदा स्वयम् ॥५॥

सेनापतिबलाध्यक्षौ सर्वदिक्षु निवेशयेत् ।
यतश्च भयमाशंकेत् प्राचीं तां कल्पयेद्दिशम् ॥६॥

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृतसंज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूनविकारिणः ॥७॥
संहतान् योधयेदल्पान् कामं विस्तारयेद् बहून् ।
सूच्या वज्रेण चैवैतान् व्यूहेन व्यूह्य योधयेत् ॥८॥
स्यन्दनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले ॥९॥
प्रहर्षयेद् बलं व्यूह्य तांश्च सम्यक् परीक्षयेत् ।
चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन् योधयतामपि ॥१०॥
उपरुध्यारिमासीत राष्ट्रं चास्योपपीडयेत् ।
दूषयेच्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्धनम् ॥११॥
भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारपरिखास्तथा ।
समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रौ वित्रासयेत्तथा ॥१२॥
प्रमाणानि च कुर्वीत तेषां धर्म्यान्यथोदितान् ।
रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरुषैः सह ॥१३॥
आदानमप्रियकरं दानञ्च प्रियकारकम् ।
अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते ॥१४॥

मनु० [७ ॥ १८४—१९२ । १९४—१९६ । २०३ । २०४]

जब राजा शत्रुओं के साथ युद्ध करनेको जावे तब अपने राज्य की रक्षाका प्रबन्ध और यात्रा की सामग्री यथाविधि करके सब सेना, यान, वाहन, और शस्त्रास्त्रादि पूर्ण लेकर सर्वत्र दूतों अर्थात् चारों ओरके समाचारों को देने वाले पुरुषों को गुप्त स्थापन करके शत्रुओंकी ओर युद्ध करने को जावे ॥१॥

तीन प्रकारके मार्ग अर्थात् एक स्थल (भूमि) में दूसरा जल (समुद्र वा नदियों) में तीसरा आकाशमार्गों को शुद्ध बनाकर भूमिमार्गमें रथ, अश्व, हाथी, जलमें नौका और आकाशमें विमानादि यानों से जावे और पैदल, रथ, हाथी, घोड़े, शस्त्र खानपानादि सामग्रीको यथावत् साथ ले बलयुक्त पूर्ण करके किसी निमित्तको प्रसिद्ध करके शत्रुके नगरके समीप धीरे धीरे जावे ॥ २ ॥

जो भीतरसे शत्रुसे मिला हो और अपने साथ भी ऊपरसे मित्रता रक्खे गुप्तता से शत्रुको भेद देवे उसके आने जाने में उससे बात करने में अत्यन्त सावधानी रक्खे क्योंकि भीतर शत्रु ऊपर मित्र पुरुषको बड़ा शत्रु समझना चाहिये ॥ ३ ॥

सब राजपुरुषोंको युद्ध करनेकी विद्या सिखावे और आप सीखे तथा अन्य प्रजाजनोंको सिखावे जो पूर्व शिक्षित योद्धा होते हैं वे ही अच्छे प्रकार लड़ लड़ा जानते हैं जब शिक्षा करे तब (दण्डव्यूह) दण्ड के समान सेना को चलावे (शकट०) जैसा शकट अर्थात् गाड़ी के समान (वराह०) जैसे सुवर एक दूसरेके पीछे दौड़ते जाते हैं और कभी-कभी सब मिल

कर झुण्ड हो जाते हैं वैसे (मकर०) जैसे मगर पानीमें चलते हैं वैसे सेनाको बनावे (सूचीव्यूह) जैसे सुईका अग्र-भाग सूक्ष्म पश्चात् स्थूल और उससे सूत्र स्थूल होता है वैसी शिक्षासे सेना को बनाने, जैसे (नीलकण्ठ) ऊपर नीचे झपट मारता है इस प्रकार सेनाको बनाकर लड़ावे ॥ ४ ॥

जिधर भय विदित हो उसी ओर सेना को फैलावे, सब सेनाके पतियोंको चारों ओर रखके (पद्मव्यूह) अर्थात् पद्माकार चारों ओरसे सेनाओंको रखके मध्यमें आप रहै ॥ ५ ॥

सेनापति और बलाध्यक्ष अर्थात् आज्ञाका देने और सेनाके साथ लड़ने वाले वीरोंको आठों दिशाओं में रक्खे, जिस ओर से लड़ाई होती हो उसी ओर सब सेना का मुख रक्खे परन्तु दूसरी ओर भी पक्का प्रबन्ध रक्खे, नहीं तो पीछे वा पार्श्वसे शत्रुकी घात होनेका सम्भव होता है ॥ ६ ॥

जो गुल्म अर्थात् दृढ़ स्तम्भों के तुल्य युद्धविद्यासे सुशिक्षित धार्मिक स्थित होने और युद्ध करनेमें चतुर भयरहित और जिनके मनमें किसी प्रकार का विकार न हो उनको चारों ओर सेनाके रक्खे ॥ ७ ॥

जो थोड़ेसे पुरुषोंसे बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो मिल कर लड़ावे और काम पड़े तो उन्हीं को झट फैला देवे जब नगर दुर्ग वा शत्रु की सेना में प्रविष्ट होकर युद्ध करना हो तब (सूचीव्यूह) अथवा (वज्रव्यूह) जैसे दुधारा खड्ग दोनों

और काट [करता वैसे] युद्ध करते जायं और प्रविष्ट भी होते चलें वैसे अनेक प्रकारके व्यूह अर्थात् सेना को बना कर लड़ावे जो सामने शतघ्नी (तोप) वा भुशुण्डी (बन्दूक) छूट रही हो तो (सर्पव्यूह) अर्थात् सर्प के समान सोते-सोते चले जायें जब तोपोंके पास पहुंचें तब उनको मार वा पकड़ तोपोंका मुख शत्रुकी ओर फेर उन्हीं तोपों वा बन्दूक आदि से उन शत्रुओं को मारें अथवा वृद्ध पुरुषोंको तोपों के मुखके सामने घोड़ों पर सवार करा दौड़ावें और मारें बीचमें अच्छे २ सवार रहें एक वार धावा कर शत्रुकी सेनाको छिन्न भिन्न कर पकड़ लें अथवा भगा दें ॥ ८ ॥

जो समरभूमिमें युद्ध करना हो तो रथ घोड़े और पदातियों से और जो समुद्रमें युद्ध करना हो तो नौका और थोड़े जलमें हाथियों पर, वृक्ष और झाड़ीमें बाण तथा स्थल बालूमें तलवार और ढालसे युद्ध करें ॥ ९ ॥

जिस समय युद्ध होता हो उस समय लड़नेवालोंको उत्साहित और हर्षित करें जब युद्ध बन्द होजाय तब जिससे शौर्य और युद्धमें उत्साह हो वैसे वक्तृत्वोंसे सबके चित्तको खान पान अस्त्र शस्त्र सहाय और औषधादिसे प्रसन्न रक्खे व्यूहके विना लड़ाई न करे न करावे, लड़ती हुई अपनी सेना की चेष्टाको देखा करे कि ठीक २ लड़ती है वा कपट रखती है ॥ १० ॥

किसी समय उचित समझे तो शत्रु को चारों ओरसे घेर

कर रोक रक्खे और इसके राज्यको पीड़ित कर शत्रुके चारा, अन्न, जल और इन्धनको नष्ट दूषित करदे ॥ ११ ॥

शत्रु [के] तालाब नगरके प्रकोट और खाईको तोड़ फोड़ दे, रात्रिमें उनको (त्रास) भय देवे और जीतनेका उपाय करे ॥१२॥

सन्धि

जीत कर उनके साथ प्रमाण अर्थात् प्रतिज्ञादि लिखा लेवे और जो उचित समय समझे तो उसीके वंशस्थ किसी धार्मिक पुरुषको राजा करदे और उससे लिखा लेवे कि तुमको हमारी आज्ञाके अनुकूल अर्थात जैसी धर्मयुक्त राजनीति है उसके अनुसार चलके न्यायसे प्रजाका पालन करना होगा ऐसे उपदेश करे और ऐसे पुरुष उनके पास रक्खे कि जिससे पुनः उपद्रव न हो और जो हार जाय उसका सत्कार प्रधान पुरुषोंके साथ मिलकर रत्नादि उत्तम पदार्थोंके दानसे करे और ऐसा न करे कि जिससे उसका योगक्षेम भी न हो जो उसको वन्दीगृह करे तो भी उसका सत्कार यथायोग्य रक्खे जिससे वह हारनेके शोकसे रहित होकर आनन्दमें रहे ॥ १३ ॥

क्योंकि संसारमें दूसरेका पदार्थ ग्रहण करना अप्रीति और देना प्रीतिका कारण है और विशेष करके समय पर उचित क्रिया करना और उस पराजितके मनोवाञ्छित पदार्थोंका देना बहुत उत्तम है और कभी उसको चिड़ावे नहीं न हंसी और [न] ठट्ठा करे, न उसके सामने हमने तुझको पराजित किया है ऐसा

भी कहे, किन्तु आप हमारे भाई हैं इत्यादि मान्य प्रतिष्ठा सदा करे ॥ १४ ॥

मित्र के लक्षण

हिरण्यभूमिसंप्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते ।
यथा मित्रं ध्रुवं लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम् ॥ १ ॥
धर्मज्ञं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च ।
अनुरक्तं स्थिरारम्भं लघुमित्रं प्रशस्यते ॥ २ ॥
प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च ।
कृतज्ञं धृतिमन्तञ्च कष्टमाहुररिं बुधाः ॥ ३ ॥
आर्य्यता पुरुषज्ञानं शौर्य्यं करुणवेदिता ।
स्थौललक्ष्यं च सततमुदासीनगुणोदयः ॥ ४ ॥

मनु० [७ ॥ २०८-२११]

मित्रका लक्षण यह है कि राजा सुवर्ण और भूमिकी प्राप्तिसे वैसा नहीं बढ़ता कि जैसे निश्चल प्रेमयुक्त भविष्यत्‌की बातोंको सोचने और कार्य सिद्ध करने वाले समर्थ मित्र अथवा दुर्बल मित्रको भी प्राप्त होके बढ़ता है ॥ १ ॥

धर्मको जानने और कृतज्ञ अर्थात् किये हुए उपकारको सदा माननेवाले प्रसन्न स्वभाव अनुरागी स्थिरारम्भी लघु छोटे भी मित्रको प्राप्त होकर प्रशंसित होता है ॥ २ ॥

सदा इस बातको दृढ़ रक्खे कि कभी बुद्धिमान, कुलीन, शूर, वीर, चतुर, ज्ञाता, किये हुएको जाननेहारे और धैर्य्यवान् पुरुषको शत्रु न बनावे क्योंकि जो ऐसेको शत्रु बनावेगा वह दुःख पावेगा ॥ ३ ॥

उदासीनका लक्षण—जिसमें प्रशंसित गुण युक्त अच्छे बुरे मनुष्यों का ज्ञान, शूर-वीरता और करुणा भी स्थूललक्ष्य अर्थात् ऊपर २ की बातों को निरन्तर सुनाया करे वह उदासीन कहाता है ॥४॥

दिनचर्य्या

एवं सर्वमिदं राजा सह संमन्त्र्य मन्त्रिभिः ।
व्यायाम्याप्लुत्य मध्याह्ने भोक्तुमन्तःपुरं विशेत् ॥१॥

मनु० [७ । २१६]

पूर्वोक्त प्रातःकाल समय उठ शौचादि सन्ध्योपासन अग्निहोत्र कर वा करा सब मन्त्रियों से विचार कर सभा में जा सब भृत्य और सेनाध्यक्षों के साथ मिल, उनको हर्षित कर, नाना प्रकार की व्यूहशिक्षा अर्थात् कवायत् कर करा, सब घोड़े, हाथी, गाय आदि [का] स्थान शस्त्र और अस्त्र का कोश तथा वैद्यालय, धन के कोशों को देख कर सब पर दृष्टि नित्य-प्रति देकर जो कुछ उनमें खोट हों उनको निकाल व्यायाम-शाला में जा व्यायाम करके [मध्याह्न समय] भोजन के लिये "अन्तःपुर" अर्थात् पत्नी आदि के निवासस्थान में प्रवेश करे

और भोजन सुपरीक्षित, बुद्धिबलपराक्रमवर्द्धक, रोगविनाशक अनेक प्रकार के अन्न व्यञ्जन पान आदि सुगन्धित मिष्टादि अनेक रसयुक्त उत्तम करे कि जिससे सदा सुखी रहे, इस प्रकार सब राज्य के कार्यों की उन्नति किया करे ॥

कर लेने का प्रकार

पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः ।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ॥१॥

मनु० [७।१३०]

जो व्यापार करने वाले वा शिल्पी को सुवर्ण और चांदी का जितना लाभ हो उसमें से पचासवां भाग, चावल आदि अन्नों में छठा, आठवां वा बारहवां भाग लिया करे और जो धन लेवे तो भी उस प्रकार से लेवे कि जिससे किसान आदि खाने पीने और धन से रहित होकर दुःख न पावें॥ १ ॥

क्योंकि प्रजा के धनाढ्य आरोग्य खान पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राजपुरुषों को जाने यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है जो प्रजा न हो तो राजा किसका ? और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे ? दोनों अपने अपने काम में स्वतन्त्र और मिले

हुए प्रीतियुक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राजपुरुष न हों राजा की आज्ञा के विरुद्ध राजपुरुष वा प्रजा न चले, यह राजा का राजकीय निज काम अर्थात् जिसको "पोलिटिकल" कहते हैं संक्षेप से कह दिया अब जो विशेष देखना चाहे वह चारों वेद मनुस्मृति शुक्रनीति महाभारतादि में देखकर निश्चय करे और जो प्रजा का न्याय करना है वह व्यवहार मनुस्मृति के अष्टम और नवमाध्याय आदि की रीति से करना चाहिये, परन्तु यहां भी संक्षेप से लिखते हैं:—

न्याय

प्रत्यहं देशदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्च हेतुभिः।
अष्टादशसु मार्गेषु निबद्धानि पृथक् पृथक् ॥१॥
तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च ॥२॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः ॥३॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ॥४॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ॥५॥

एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम् ।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम् ॥६॥
धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते ।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७॥
सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम् ।
अब्रुवन्विब्रुवन्वापि नरो भवति किल्विषी ॥८॥
यत्र धर्मो ह्यधर्मेण सत्यं यत्रानृतेन च ।
हन्यते प्रेक्षमाणानां हतास्तत्र सभासदः ॥९॥
धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥१०॥
वृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम् ।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥११॥
एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥१२॥
पादो धर्मस्य कर्त्तारं पादः साक्षिणमृच्छति ।
पादः सभासदः सर्वान् पादो राजानमृच्छति ॥१३॥
राजा भवत्यनेनास्तु मुच्यन्ते च सभासदः ।
एनो गच्छति कर्त्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥१४॥

मनु० [८। ३८—१२—१६]

सभा राजा और राजपुरुष सब लोग देशाचार और शास्त्र-व्यवहार हेतुओं से निम्नलिखित अठारह विवादास्पद मार्गों में विवादयुक्त कर्मों का निर्णय प्रतिदिन किया करें और जो २ नियम शास्त्रोक्त न पावें और उनके होने की आवश्यकता जानें तो उत्तमोत्तम नियम बान्धें कि जिस से राजा और प्रजा की उन्नति हो ॥१॥

अठारह मार्ग ये हैं, उनमें से १—(ऋणादान) किसी से ऋण लेने देने का विवाद। २—(निक्षेप) धरावट अर्थात् किसी ने किसी के पास पदार्थ धरा हो और मांगे पर न देना ३—(अस्वामिविक्रय) दूसरे के पदार्थको दूसरा बेच लेवे। ४—(सम्भूय च समुत्थानम्) मिल मिलाके किसी पर अत्याचार करना। ५—(दत्तस्यानपकर्म च) दिये हुए पदार्थ का न देना ॥२॥

६—(वेतनस्यैव चादानम्) वेतन अर्थात् किसीकी "नौकरी" में से लेलेना वा कम देना अथवा न देना। ७—(प्रतिज्ञा) प्रतिज्ञा से विरुद्ध वर्तना। ८—(क्रयविक्रयानुशय) अर्थात लेन देन में झगड़ा होना। ९—पशुके स्वामी और पालने वालेका झगड़ा ॥३॥

१०—सीमा का विवाद। ११—किसी को कठोर दण्ड देना। १२—कठोर वाणी का बोलना। १३—चोरी डाका मारना। १४—किसी काम को बलात्कार से करना। १५—किसी की स्त्री वा पुरुष का व्यभिचार होना ॥४॥

१६—स्त्री और पुरुष के धर्म में व्यतिक्रम होना १७—विभाग अर्थात् दायभाग में वाद उठना। १८—द्यूत अर्थात् जड़पदार्थ और समाह्वय अर्थात चेतनको दाव में धरके जुआ खेलना। ये अठारह प्रकार के परस्पर विरुद्ध व्यवहार के स्थान हैं ॥५॥

इन व्यवहारों में बहुत से विवाद करने वाले पुरुषों के न्याय को सनातनधर्म के आश्रय करके किया करे अर्थात् किसी का पक्षपात कभी न करे ॥६॥

जिस सभा में अधर्म से घायल होकर धर्म उपस्थित होता है जो उसका शल्य अर्थात् तीरवत् धर्म के कलंक को निकालना और अधर्म का छेदन नहीं करते अर्थात् धर्मीको मान अधर्मी को दण्ड नहीं मिलता उस सभा में जितने सभासद् हैं वे सब घायल के समान समझे जाते हैं॥७॥

धार्मिक मनुष्य को योग्य है कि सभा में कभी प्रवेश न करे और जो प्रवेश किया हो तो सत्य ही बोले जो कोई सभा में अन्याय होते हुए को देखकर मौन रहे अथवा सत्य न्याय के विरुद्ध बोले वह महापापी होता है ॥ ८ ॥

जिस सभा में अधर्म से धर्म, असत्य से सत्य सब सभासदों के देखते हुए मारा जाता है उस सभा में सब मृतक के समान हैं जानो उनमें कोई भी नहीं जीता ॥ ९ ॥

मरा हुआ धर्म मारने वाले का नाश और रक्षित किया हुआ

धर्म रक्षक की रक्षा करता है इसलिये धर्मका हनन कभी न करना इस डर से कि मारा हुआ धर्म कभी हमको न मार डाले ॥१०॥

जो सब ऐश्वर्यों के देने और सुखों की वर्षा करने वाला धर्म है उसका लोप करता है उसीको विद्वान् लोग वृषल अर्थात शूद्र और नीच जानते हैं इसलिये किसी मनुष्य को धर्म का लोप करना उचित नहीं ॥ ११ ॥

इस संसार में एक धर्म ही सुहृद् है जो मृत्यु के पश्चात् भी साथ चलता है और सब पदार्थ वा संगी शरीर के नाश के साथ ही नाश को प्राप्त होते हैं अर्थात् सबका संग छूट जाता है ॥ १२ ॥

परन्तु धर्म का संग कभी नहीं छूटता जब राजसभा में पक्षपातसे अन्याय किया जाता है वहां अधर्म के चार विभाग हो जाते हैं उनमें से एक अधर्म के कर्त्ता, दूसरा साक्षी, तीसरा सभासदों और चौथा पाद अधर्मी सभा के सभापति राजा को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

जिस सभा में निन्दा के योग्य की निन्दा, स्तुति के योग्य की स्तुति, दण्ड के योग्य को दण्ड और मान्य के योग्य का मान्य होता है वहां राजा और सब सभासद् पाप से रहित और पवित्र होजाते हैं पापके कर्त्ता ही को पाप प्राप्त होता है ॥१४॥

साक्षी

आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः ।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत् ॥१॥

स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः ।
शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः ॥२॥

साहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च ।
वाग्दण्डयोश्च पारुष्ये न परीक्षेत साक्षिणः ॥३॥

बहुत्वं परिगृह्णीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः ।
समेषु तु गुणोत्कृष्टान् गुणद्वैधे द्विजोत्तमान् ॥४॥

समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिध्यति ।
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते ॥५॥

साक्षी दृष्टश्रुतादन्यद्विब्रुवन्नार्यसंसदि ।
अवाङ्नरकमभ्येति प्रेत्य स्वर्गाच्च हीयते ॥६॥

स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद् ग्राह्यं व्यावहारिकम् ।
अतो यदन्यद्विब्रूयुर्धर्मार्थं तदपार्थकम् ॥७॥

सभान्तः साक्षिणः प्राप्तानर्थिप्रत्यर्थिसन्निधौ ।
प्राड्विवाकोऽनुयुञ्जीत विधिनाऽनेन सान्त्वयन् ॥८॥

यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिन् चेष्टितं मिथः ।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं ह्यत्र साक्षिता ॥९॥

सत्यं साक्ष्ये ब्रुवन्साक्षी लोकानाप्नोति पुष्कलान् ।
इह चानुत्तमां कीर्त्तिं वागेषा ब्रह्मपूजिता ॥१०॥

सत्येन पूयते साक्षी धर्मः सत्येन वर्द्धते ।
तस्मात्सत्यं हि वक्तव्यं सर्ववर्णेषु साक्षिभिः ॥११॥
आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः ।
मावमंस्थाः स्वमात्मानं नृणां साक्षिणमुत्तमम् ॥१२॥
यस्य विद्वान् हि वदतः क्षेत्रज्ञो नाभिशङ्कते ।
तस्मान्न देवाः श्रेयांसं लोकेऽन्यं पुरुषं विदुः ॥१३॥
एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्वं कल्याण मन्यसे ।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः ॥१४॥

मनु० [८ ॥ ६३ । ६८ । ७२-७५ । ७८--८१ । ८३ । ८४ । ६६।६१]

सब वर्णों में धार्मिक, विद्वान्, निष्कपटी, सब प्रकार धर्म को जानने वाले, लोभ रहित सत्यवादी को न्यायव्यवस्था में साक्षी करे इससे विपरीतों को कभी न करे ॥१॥

स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजों के द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों ॥२॥

जितने बलात्कार काम चोरी, व्यभिचार, कठोर वचन, दण्डनिपात रूप अपराध हैं उनमें साक्षी की परीक्षा न करे और अत्यावश्यक भी समझें क्योंकि ये काम सब गुप्त होते हैं ॥३॥

दोनों ओर के साक्षियों में से बहुपक्षानुसार, तुल्य साक्षियों में उत्तम गुणी पुरुष की साक्षी के अनुकूल और दोनों के साक्षी

उत्तम गुणी और तुल्य हों तो द्विजोत्तम अर्थात ऋषि महर्षि और यतियों की साक्षी के अनुसार न्याय करे ॥४॥

दो प्रकार के साक्षी होना सिद्ध होता है एक साक्षात् देखने और दूसरा सुनने से, जब सभा में पूछें तब जो साक्षी सत्य बोलें वे धर्महीन और दण्ड के योग्य न होवें और जो साक्षी मिथ्या बोलें वे यथायोग्य दण्डनीय हों ॥५॥

जो राजसभा वा किसी उत्तम पुरुषों की सभा में साक्षी देखने और सुनने से विरुद्ध बोले तो वह (अवाङ् नरक) अर्थात् जिह्वा के छेदने से दुःखरूप नरकको वर्त्तमान समय में प्राप्त होवे और मरे पश्चात् सुख से हीन हो जाये ॥ ६ ॥

साक्षी के उस वचन को मानना कि जो स्वभाव ही से व्यवहार सम्बन्धी बोले और इससे भिन्न सिखाये हुए जो २ वचन बोले उस २ को न्यायाधीश व्यर्थ समझे ॥ ७ ॥

जब अर्थी (वादी) और प्रत्यर्थी (प्रतिवादी) के सामने सभा के समीप प्राप्त हुए साक्षियों को शान्तिपूर्वक न्यायाधीश और प्राड्विवाक अर्थात् वकील वा बैरिस्टर इस प्रकार से पूछें ॥ ८ ॥

हे साक्षि लोगो ! इस कार्य में इन दोनोंके परस्पर कर्मों में जो तुम जानते हो उसको सत्य के साथ बोलो क्योंकि तुम्हारी इस कार्य्य में साक्षी है ॥६॥

जो साक्षी सत्य बोलता है वह जन्मान्तर में उत्तम जन्म और उत्तम लोकान्तरों में जन्म को प्राप्त होके सुख भोगता है

इस जन्म वा परजन्म में उत्तम कीर्ति को प्राप्त होता है क्योंकि जो यह वाणी है वही वेदों में सत्कार और तिरस्कार का कारण लिखी है। जो सत्य बोलता है वह प्रतिष्ठित और मिथ्यावादी निन्दित होता है ॥१०॥

सत्य बोलने से साक्षी पवित्र होता और सत्य ही बोलने से धर्म बढ़ता है इससे सब वर्णों में साक्षियों को सत्य ही बोलना योग्य है ॥११॥

आत्मा का साक्षी आत्मा और आत्मा की गति आत्मा है उसको जान के हे पुरुष ! तू सब मनुष्यों का उत्तम साक्षी अपने आत्मा का अपमान मत कर अर्थात् सत्यभाषण जो कि तेरे आत्मा मन वाणी में है वह सत्य और जो इससे विपरीत है वह मिथ्याभाषण है ॥१२॥

जिस बोलते हुए पुरुष को विद्वान् क्षेत्रज्ञ अर्थात् शरीर का जानने हारा आत्मा भीतर शङ्का को प्राप्त नहीं होता उससे भिन्न विद्वान् लोग किसी को उत्तम पुरुष नहीं जानते ॥१३॥

हे कल्याणकी इच्छा करनेहारे पुरुष ! जो तू "मैं अकेला हूं" ऐसा अपने आत्मामें जानकर मिथ्या बोलता है सो ठीक नहीं है किन्तु जो दूसरा तेरे हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे परमेश्वर पुण्य पापका देखनेवाला मुनि स्थित है उस परमात्मासे डरकर सदा सत्य बोला कर ॥ १४ ॥

लोभान्मोहाद्भयान्मैत्रात्कामात्क्रोधात्तथैव च ।
अज्ञानाद्बालभावाच्च साक्ष्यं वितथमुच्यते ॥१॥

एषामन्यतमे स्थाने यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ।
तस्य दण्डविशेषांस्तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥२॥
लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वन्तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्रात्पूर्वं चतुर्गुणम् ॥३॥
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तु त्रिगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ॥४॥
उपस्थमुदरं जिह्वा हस्तौ पादौ च पञ्चमम् ।
चक्षुर्नासा च कर्णौ च धनं देहस्तथैव च ॥५॥
अनुबन्धं परिज्ञाय देशकालौ च तत्त्वतः ।
साराऽपराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥६॥
अधर्मदण्डनं लोके यशोघ्नं कीर्तिनाशनम् ।
अस्वर्ग्यञ्च परत्रापि तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥७॥
अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति ॥८॥
वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डमतः परम् ॥९॥

मनु० [८ । ११८—१२१ । १२५—१२९]

जो लोभ, मोह, भय, मित्रता, काम, क्रोध, अज्ञान और बालकपनसे साक्षी देवे वह सब मिथ्या समझी जावे ॥ १ ॥

इनमेंसे किसी स्थानमें साक्षी झूठ बोले उसको वक्ष्यमाण अनेकविध दण्ड दिया करे ॥ २ ॥

जो लोभसे झूठी साक्षी देवे तो उससे १५॥≈) (पन्द्रह रुपये दश आने) दण्ड लेवे, जो मोहसे झूठी साक्षी देवे उससे ३≈) (तीन रुपये दो आने) दण्ड लेवे, जो भयसे मिथ्या साक्षी देवे उससे ६।) (सवा छः रुपये) दण्ड लेवे, और जो पुरुष मित्रतासे झूठी साक्षी देवे उससे १२॥) (साढ़े बारह रुपये) दण्ड लेवे ॥३॥

जो पुरुष कामनासे मिथ्या साक्षी देवे उससे २५) (पच्चीस रुपये) दण्ड लेवे, जो पुरुष क्रोधसे झूठी साक्षी देवे उससे ४६॥≈) (छयालीस रुपये चौदह आने) दण्ड लेवे, जो पुरुष अज्ञानतासे झूठी साक्षी देवे उससे ६) (छः रुपये) दण्ड लेवे, और जो बालकपन से मिथ्या साक्षी देवे तो उससे १॥–) (एक रुपया नौ आने) दण्ड लेवे ॥ ४ ॥

दण्डके उपस्थेन्द्रिय, उदर, जिह्वा, हाथ, पग, आंख, नाक, कान, धन और देह ये दश स्थान हैं कि जिन पर दण्ड दिया जाता है ॥ ५ ॥

परन्तु जो २ दण्ड लिखा है और लिखेंगे जैसे लोभसे साक्षी देनेमें पन्द्रह रुपये दश आने दण्ड लिखा है परन्तु जो अत्यन्त निर्धन हो तो उससे कम और धनाढ्य हो तो उससे दूना तिगुना और चौगुना तक भी ले लेवे अर्थात् जैसा देश, जैसा काल और पुरुष हो उसका जैसा अपराध हो वैसा ही दंड करे ॥ ६ ॥

क्योंकि इस संसारमें जो अधर्मसे दंड करना है वह पूर्व प्रतिष्ठा वर्त्तमान और भविष्यत्में और परजन्ममें होने वाली कीर्तिका नाश करनेहारा है और परजन्ममें भी दुःखदायक होता है इसलिये अधर्मयुक्त दंड किसी पर न करे ॥ ७ ॥

जो राजा दंडनीयोंको न दंड और अदण्डनीयोंको दण्ड देता है अर्थात दण्ड देने योग्यको छोड़ देता और जिसको दण्ड देना न चाहिये उसको दण्ड देता है वह जीता हुआ बड़ी निन्दा को और मरे पीछे बड़े दुःखको प्राप्त होता है इसलिये जो अपराध करे उसको सदा दण्ड देवे और अनपराधी को दण्ड कभी न देवे॥ ८ ॥

प्रथम वाणीका दण्ड अर्थात् उसकी "निन्दा" दूसरा "धिक्" दण्ड अर्थात् तुझको धिक्कार है तूं ने ऐसा बुरा काम क्यों किया, तीसरा उससे "धन लेना" और चौथा "वध" दण्ड अर्थात् उसको कोड़ा वा बेंत से मारना वा शिर काट देना ॥९॥

दण्ड व्यवस्था

येन येन यथाङ्गेन स्तेनो नृषु विचेष्टते ।
तत्तदेव हरेदस्य प्रत्यादेशाय पार्थिवः ॥ १ ॥

पिताचार्य्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति ॥ २ ॥

कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥ ३ ॥
अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्विषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत् क्षत्रियस्य च ॥ ४ ॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्ठिःपूर्णं वापि शतं भवेत् ।
द्विगुणा वा चतुःषष्ठिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥ ५ ॥
ऐन्द्रं स्थानमभिप्रेप्सुर्यशश्चाक्षयमव्ययम् ।
नोपेक्षेत क्षणमपि राजा साहसिकं नरम् ॥ ६ ॥
वाग्दुष्टात्तस्कराच्चैव दण्डेनैव च हिंसतः ।
साहसस्य नरः कर्त्ता विज्ञेयः पापकृत्तमः ॥ ७ ॥
साहसे वर्त्तमानन्तु यो मर्षयति पार्थिवः ।
स विनाशं व्रजत्याशु विद्वेषं चाधिगच्छति ॥ ८ ॥
न मित्रकारणाद्राजा विपुलाद्वा धनागमात् ।
समुत्सृजेत् साहसिकान्सर्वभूतभयावहान् ॥ ९ ॥
गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ १० ॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥ ११ ॥

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक् ।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक् ॥ १२ ॥

मनु० [८ । ३३४—३३८ । ३४४—३४७ । ३५० । ३५१ । ३८६]

और जिस प्रकार जिस २ अङ्गसे मनुष्योंमें विरुद्ध चेष्टा करता है उस २ अङ्गको सब मनुष्योंकी शिक्षाके लिये राजा हरण अर्थात् छेदन करदे ॥ १ ॥

चाहे पिता, आचार्य, मित्र, स्त्री, पुत्र और पुरोहित क्यों न हो जो स्वधर्ममें स्थित नहीं रहता वह राजाका अदण्ड्य नहीं होता अर्थात् जब राजा न्यायासन पर बैठ न्याय करे तब किसीका पक्षपात न करे किन्तु यथोचित दण्ड देवे ॥ २ ॥

जिस अपराधमें साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो उसी अपराधमें राजाको सहस्र पैसा दण्ड होवे अर्थात् साधारण मनुष्यसे राजाको सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिये मन्त्री अर्थात् राजाके दीवान को आठसौ गुणा उससे न्यूनको सातसौ गुणा और उससे भी न्यूनको छः सौ गुणा इसी प्रकार उत्तम २ अर्थात् जो एक छोटेसे छोटा भृत्य अर्थात् चपरासी है उसको आठगुणे दण्डसे कम न होना चाहिये क्योंकि यदि प्रजापुरुषों से राजपुरुषोंको अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े दण्डसे ही वशमें आजाती है इसलिये राजासे लेकर छोटेसे छोटे भृत्य

पर्य्यन्त राजपुरुषोंको अपराधमें प्रजापुरुषोंसे अधिक दण्ड होना चाहिये ॥ ३ ॥

और वैसे ही जो कुछ विवेकी होकर चोरी करे उस शूद्रको चरी से आठ गुणा, वैश्यको सोलह गुणा, क्षत्रियको बीस गुणा ॥ ४ ॥

ब्राह्मणको चौंसठ गुणा वा सौ गुणा अथवा एकसौ अट्ठाईस गुणा दण्ड होना चाहिये अर्थात् जिसका जितना ज्ञान और जितनी प्रतिष्ठा अधिक हो उसको अपराधमें उतनाही अधिक दण्ड होना चाहिये ॥ ५ ॥

राज्यके अधिकारी धर्म और ऐश्वर्य्यकी इच्छा करने वाला राजा बलात्कार काम करने वाले डाकुओंको दण्ड देनेमें एक क्षण भी देर न करे ॥ ६ ॥

साहसिक पुरुषका लक्षण—

जो दुष्ट वचन बोलने, चोरी करने, विना अपराधसे दण्ड देनेवालेसे भी साहस बलात्कार काम करनेवाला है वह अतीव पापी दुष्ट है ॥ ७ ॥

जो राजा साहसमें वर्त्तमान पुरुषको न दण्ड देकर सहन करता है वह राजा शीघ्रही नाशको प्राप्त होता है और राज्य में द्वेष उठता है ॥ ८ ॥

न मित्रता [और] न पुष्कल धनकी प्राप्तिसे भी राजा सब प्राणियोंको दुःख देनेवाले साहसिक मनुष्यको बंधन छेदन किये विना कभी छोड़े ॥ ९ ॥

चाहे गुरु हो, चाहे पुत्रादि बालक हों, चाहे पिता आदि वृद्ध, चाहे ब्राह्मण और चाहे बहुत शास्त्रोंका श्रोता क्यों न हो जो धर्मको छोड़ अधर्ममें वर्त्तमान दूसरेको विना अपराध मारनेवाले हैं उनको विना विचारे मार डालना अर्थात् मारके पश्चात् विचार करना चाहिये ॥ १० ॥

दुष्ट पुरुषोंके मारनेमें हन्ताको पाप नहीं होता चाहे प्रसिद्ध मारे चाहे अप्रसिद्ध, क्योंकि क्रोधीको क्रोधसे मारना जानो क्रोधसे क्रोधकी लड़ाई है ॥ ११ ॥

जिस राजा के राज्यमें न चोर, न परस्त्रीगामी, न दुष्ट वचनको बोलनेहारा, न साहसिक डाकू और न दण्डध्न अर्थात् राजाकी आज्ञाका भङ्ग करने वाला है वह राजा अतीव श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥

भर्तारं लंघयेद्या स्त्री स्वज्ञातिगुणदर्पिता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥१॥
पुमांसं दाहयेत्पापं शयने तप्त आयसे ।
अभ्यादध्युश्च काष्ठानि तत्र दह्येत पापकृत् ॥२॥
दीर्घाध्वनि यथादेशं यथाकालङ्करो भवेत् ।
नदीतीरेषु तद्विद्यात्समुद्रे नास्ति लक्षणम् ॥३॥
अहन्यहन्यवेक्षेत कर्मान्तान्वाहनानि च ।
आयव्ययौ च नियतावाकरान्कोषमेव च ॥४॥

एवं सर्वानिमान्राजा व्यवहारान्समापयन् ।
व्यपोह्य किल्विषं सर्वं प्राप्नोति परमां गतिम् ॥५॥

मनु० [८ ॥ ३७१ ३७२ । ४०६ । ४१६ । ४२०]

जो स्त्री अपनी जाति गुणके घमण्डसे पतिको छोड़ व्यभिचार करे उसको बहुत स्त्री और पुरुषोंके सामने जीती हुई कुत्तोंसे राजा कटवा कर मरवा डाले ॥ १ ॥

उसी प्रकार अपनी स्त्री को छोड़के परस्त्री वा वेश्यागमन करे उस पापीको लोहेके पलङ्गको अग्निसे तपाके लाल कर उस पर सुलाके जीतेको बहुत पुरुषोंके सम्मुख भस्म कर देवे ॥२॥

प्रश्न—जो राजा वा रानी अथवा न्यायाधीश वा उसकी स्त्री व्यभिचारादि कुकर्म करे तो उसको कौन दण्ड देवे ?

उत्तर—सभा अर्थात् उनको तो प्रजापुरुषों से भी अधिक दण्ड होना चाहिये।

प्रश्न—राजादि उनसे दण्ड क्यों ग्रहण करेंगे।

उत्तर—राजा भी एक पुण्यात्मा भाग्यशाली मनुष्य है जब उसी को दण्ड न दिया जाय और वह दण्ड ग्रहण न करे तो दूसरे मनुष्य दण्ड को क्यों मानेंगे ?

और जब सब प्रजा और प्रधान राज्याधिकारी और सभा धार्मिकता से दण्ड देना चाहें तो अकेला राजा क्या कर सकता है जो ऐसी व्यवस्था न हो तो राजा प्रधान और सब समर्थ पुरुष अन्याय में डूब कर न्यायधर्म को डुबा के सब प्रजा का-

नाश कर आप भी नष्ट होजायं अर्थात् उस श्लोक के अर्थ को स्मरण करो कि न्याययुक्त दण्ड ही का नाम राजा और धर्म है जो उसका लोप करता है उससे नीच पुरुष दूसरा कौन होगा।

प्रश्न—यह कड़ा दण्ड होना उचित नहीं क्योंकि मनुष्य किसी अंग का बनाने हारा वा जिलाने वाला नहीं है इसलिए ऐसा दण्ड न देना चाहिये।

उत्तर—जो इसको कड़ा दण्ड जानते हैं वे राजनीति को नहीं समझते क्योंकि एक पुरुष को इस प्रकार दण्ड होने से सब लोग बुरे काम करने से अलग रहेंगे और बुरे कामको छोड़कर धर्म मार्ग में स्थित रहेंगे। सच पूछो तो यही है कि एक राई भर भी यह दण्ड सबके भाग में न आवेगा और जो सुगम दण्ड दिया जाये तो दुष्ट काम बहुत बढ़कर होने लगें वह जिसको तुम सुगम दण्ड कहते हो वह क्रोड़ों गुणा अधिक होने से क्रोड़ों गुणा कठिन होता है क्योंकि जब बहुत मनुष्य दुष्ट कर्म करेंगे तब थोड़ा २ दण्डभी देना पड़ेगा अर्थात् जैसे एकको मन भर दण्ड हुआ और दूसरे को पाव भर तो पावभर अधिक एक मन दण्ड होता है तो प्रत्येक मनुष्य के भाग में आधपाव बीस सेर दण्ड पड़ा तो ऐसे सुगम दण्ड को दुष्ट लोग क्या समझते हैं ? जैसे एक को मन और सहस्र मनुष्यों को पाव २ दण्ड हुआ तो ६। (सवा छः) मन मनुष्य जाति पर दण्ड होने से अधिक और यही कड़ा तथा वह एक मन दण्ड न्यून और सुगम होता है।

जो लम्बे मार्ग में समुद्र की खाड़ियां वा नदी तथा बड़े नदी में जितना लम्बा देश हो उतना कर स्थापन करे और महा समुद्र में निश्चित कर स्थापन नहीं हो सकता किन्तु जैसा अनुकूल देखे कि जिससे राजा और बड़े २ नौकाओं के समुद्र में चलाने वाले दोनों लाभयुक्त हों वैसी व्यवस्था करे परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि जो कहते हैं कि प्रथम जहाज नहीं चलते थे वे झूठे हैं और देश-देशान्तर द्वीप-द्वीपान्तरों में नौकासे जाने वाले अपने प्रजास्थ पुरुषों की सर्वत्र रक्षाकर उनको किसी प्रकार का दुःख न होने देवे ॥ ३ ॥

राजा प्रतिदिन कर्मों की समाप्तियों को, हाथी घोड़े आदि वाहनों को नियत लाभ और खरच, "आकर" रत्नादिकों की खाने और कोष (खजाने) को देखा करे ॥ ४ ॥

राजा इस प्रकार सब व्यवहारों को यथावत् समाप्त करता कराता हुआ सब पापों को छुड़ाके परमगति मोक्ष सुख को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

संस्कृत में राजनीति

प्रश्न—संस्कृत विद्या में पूरी २ राजनीति है वा अधूरी ?

उत्तर—पूरी है क्योंकि जो २ भूगोल में राजनीति चली और चलेगी वह सब संस्कृत विद्या से ली है और जिनका प्रत्यक्ष लेख नहीं है उनके लिये:—

अत्यहं लोकदृष्टैश्च शास्त्रदृष्टैश्चहेतुभिः ॥ मनु० ८। ३ ॥

जो नियम राजा और प्रजाके सुखकारक और धर्मयुक्त समझें उन २ नियमों को पूर्ण विद्वानों की राजसभा बांधा करे। परन्तु इस पर नित्य ध्यान रक्खे कि जहां तक बन सके वहां तक बाल्यावस्था में विवाह न करने देवें। युवावस्था में भी विना प्रसन्नता के विवाह न करना कराना और न करने देना। ब्रह्मचर्यका यथावत् सेवन करना कराना। व्यभिचार और बहु विवाह को बन्द करें कि जिससे शरीर और आत्मा में पूर्ण बल सदा रहे। क्योंकि जो केवल आत्मा का बल अर्थात् विद्या ज्ञान बढ़ाये जायं और शरीर का बल न बढ़ावें तो एक ही बलवान् पुरुष ज्ञानी और सैंकड़ों विद्वानों को जीत सकता है। जो केवल शरीर ही का बल बढ़ाया जाय आत्मा का नहीं तो भी राज्य पालन की उत्तम व्यवस्था विना विद्या के कभी नहीं हो सकती। विना व्यवस्था के सब आपस में ही फूट टूट विरोध लड़ाई झगड़ा करके नष्ट भ्रष्ट हो जायं। इसलिये सर्वदा शरीर और आत्मा के बल को बढ़ाते रहना चाहिये। जैसा बल और बुद्धि का नाशक व्यवहार व्यभिचार और अतिविषयासक्ति है वैसा और कोई नहीं है। विशेषतः क्षत्रियों को दृढ़ांग और बलयुक्त होना चाहिए। क्योंकि जब वे ही विषयासक्त होंगे तो राज्यधर्म ही नष्ट होजायगा। और इस पर भी ध्यान रखना चाहिये कि "यथा राजा तथा प्रजा" जैसा राजा होता है वैसी ही उसकी प्रजा होती है। इसलिये राजा और राजपुरुषों

को अति उचित है कि कभी दुष्टाचार न करें, किन्तु सब दिन धर्म न्याय से वर्तकर सब के सुधारका दृष्टान्त बनें।

यह संक्षेप से राजधर्म का वर्णन यहां किया है विशेष वेद, मनुस्मृति के सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय में और शुक्रनीति तथा विदुरप्रजागर और महाभारत शान्तिपर्वके राजधर्म और आपद्धर्म आदि पुस्तकों में देखकर पूर्ण राजनीति को धारण करके माण्डलिक अथवा सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य करें और समझें कि "वयं प्रजापतेः प्रजा अभूम" १८।२६ (यह यजुर्वेद का वचन है) हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम उसके किंकर भृत्यवत् हैं वह कृपा करके अपनी सृष्टि में हमको राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।

इति श्रीमद्दयानन्द सरस्वती स्वामिकृते सत्यार्थप्रकाशे सुभाषा-
विभूषिते राजधर्मविषये षष्ठः समुल्लासः सम्पूर्णः।

भारतीय स्वतंत्रता को आर्यसमाज की देन

राष्ट्र और राष्ट्रीयता के विषय में राज्यशास्त्र के विशेषज्ञों ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है और उनमें विविध प्रकार के प्रचलित राजनीतिक वादों का सोपपत्तिक प्रतिपादन किया गया है। अर्वाचीन भारत में राष्ट्र और राष्ट्रीयता की कल्पना का श्रेय आचार्य दयानन्द और उनके अमर ग्रन्थ सत्यार्थ-प्रकाश को है। कल्पना ही नहीं, राष्ट्र के समुन्नत, सुविलसित, सुदृढ़ और सुविस्तृत बनाने के लिये आवश्यक सभी बातों का उन्होंने उल्लेख किया है। भारत की स्वतंत्रता से सम्बन्ध रखने वाली कौन सी ऐसी बात है जिस पर ऋषि दयानन्द ने लेखनी नहीं उठाई। भारतीय राजनीति के प्रत्येक पहलू पर उन्होंने विचार किया। देश की तत्कालीन और सम्भावित सभी समस्याओं की ओर उनका ध्यान गया। राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस ने १६२७ में पूर्ण स्वराज्य को अपना ध्येय स्वीकार किया और सन् १६२६ में लाहौर में उसकी प्राप्ति के लिये संघर्ष करने की घोषणा की। इससे पूर्व १६१६ में लखनऊ कांग्रेस में लोकमान्य तिलक ने 'स्वराज्य' के जन्मसिद्ध अधिकार की घोषणा करते हुए उसे प्राप्त करने का दावा

किया था। उससे भी पूर्व १६०६ में दादा भाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण किया था। किन्तु आचार्य दयानन्द ने जब 'स्वराज्य' का विचार भी किसी के मस्तिष्क में नहीं उपजा था "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न रहें" इन शब्दों में पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की थी। उस समय भारत के लोग सरकार से थोड़ी सी सुविधायें पाकर ही सन्तुष्ट हो जाना चाहते थे किन्तु महर्षि ने अपने देशवासियों को चेतावनी दी कि "कोई कितना ही कहे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तरों के आग्रह-रहित, अपने और पराये का पक्षपातशून्य प्रजा पर माता पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ भी विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं हो सकता।" सामयिक परिस्थितियों के कारण असन्तुष्ट लोग जो वर्त्तमान शासन को दोषपूर्ण कहते हुए उसकी तुलना में ब्रिटिश शासन को श्रेयस्कर मानते हैं और कभी कभी यहा तक कह बैठते हैं कि 'इससे तो गुलामी ही अच्छी थी' ऋषि के उपर्युक्त शब्दों में निहित उत्कृष्ट भावना को देखें। स्वयं वेद ने स्वराज्य के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा है 'स ह तत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्पर-मस्ति भूतम्' अर्थात् स्वराज्य से बढ़कर कोई पदार्थ नहीं।

आज का संसार महर्षि दयानन्द को एक धर्मप्रचारक और समाजसुधारक के रूप में ही जानता और मानता है।

बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उनकी राष्ट्रीयता अथवा देशभक्ति से परिचित हैं। आज जब कि अंग्रेज भारत को छोड़ कर चले गये और भारतीय जनता स्वतन्त्रता का रसास्वादन कर रही है, कितने लोग ऐसे हैं जो यह जानते हैं कि एकबार एक अंगरेज कलेक्टर ने स्वामी जी का भाषण सुनने के बाद कहा था कि "यदि आपके भाषण पर लोग चलने लग जायें तो इसका परिणाम यह होगा कि हमें अपना बधना-बोरिया बांधना पड़ेगा !"

१६११ की जनसंख्या के अध्यक्ष श्री ब्लन्ट ने आर्यसमाज की आलोचना करते हुए लिखा था।

"The Arya Samajic Doctrine has a Patriotic side. The Arya Doctrine and Arya Education alike sing the glories of Ancient India and by so doing arouse a feeling of national pride in its disciples who are made to feel that their country's history is not a tale of humiliation. Patriotism and politics are not synonymous but the arousing of an interest in national affairs is a natural result of arousing national pride."

"आर्य समाज के सिद्धान्तों में स्वदेश प्रेम की प्रेरणा है। आर्य सिद्धान्त और आर्य शिक्षा दोनों समानरूप से भारत के प्राचीन गौरव के गीत गाते हैं। और ऐसा करके अपने

अनुयायियों में राष्ट्रिय गौरव की भावना को जागृत करते हैं। इस शिक्षा के कारण ही वे समझते हैं कि हमारे देश का इतिहास पराभव की कहानी नहीं है। देशभक्ति और राजनीति पर्यायवाची नहीं हैं किन्तु राष्ट्रिय कार्यों में प्रवृत्ति का होना राष्ट्रिय भावना का स्वाभाविक परिणाम है।"

मिस्टर ब्लन्ट के कथन की यथार्थता को जानने के लिए महर्षि के इन शब्दों पर ध्यान देना काफी है "यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में दूसरा देश नहीं है। जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हैं। आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहेरूपी विदेशी छूते ही सुवर्ण अथवा धनाढ्य होजाते हैं। सृष्टि से लेकर पांच सहस्र वर्षों से पूर्व पर्यन्त आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्ती अर्थात् भूगोल में सर्वोपरि एकमात्र राज्य था। अन्य देश में माण्डलिक अर्थात् छोटे छोटे राजा रहते थे।" वास्तव में ऋषि दयानन्द अपने देशवासियों में यह भावना भरना चाहते थे कि तुम्हारा अतीत अत्यन्त गौरवपूर्ण था। मिस्टर ब्लन्ट के कथनानुसार इस भावना के जागृत होने का अनिवार्य परिणाम यही है कि लोगों में अपने खोये हुए वैभव को फिर से पाने की लालसा पैदा हो। हुआ भी वही। लोगों में अपनी गुलामी के प्रति घृणा और स्वतंत्र होने की इच्छा को प्रोत्साहन मिला। किसी भी मामले में विदेशियों के सामने सिर झुकाना ऋषि को सह्य नहीं था। वह लिखते हैं कि "जब अपने

देश में सत्य विद्या, सत्य धर्म, ठीक ठीक सुधार और परमयोग की सब बातें थीं और अब भी हैं तब विचारिए कि थियोसोफिस्टों को एतद्देशवासियों के मत में मिलना चाहिए या आर्यावर्त्तियों को थियोसोफिस्ट होना चाहिये।" ऋषि के स्वदेश प्रेम के सामने फ्रांस, अमेरिका और स्विटजरलैंड से प्रेरणा पाने वाले वर्तमान भारतीय देशभक्तों की राष्ट्रियता कितनी फीकी है। वास्तव में स्वदेशी भाषा, भाव, साहित्य, संस्कृति के प्रेम के बिना स्वदेश प्रेम बिलकुल थोथा और निर्जीव है। मिस्टर ब्लन्ट ने आगे लिखा है :—

"Dayanand was not merely a religious reformer, he was also a great patriot. It would be fair to say that with him religious reform was a mere means to national reform."

"दयानन्द केवल धार्मिक सुधारक ही नहीं थे। वह बहुत बड़े देशभक्त भी थे। यह कहना ठीक ही होगा कि उन्होंने सामाजिक सुधार को राष्ट्रिय सुधार के साधनरूप में ही अपनाया था।"

मिस्टर ब्लन्ट ने बहुत ही पते की बात कही है। इसमें सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द ने पाखंडों और परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का खंडन इसलिये किया कि इनके रहते हुये 'परस्पर एकमत, एकता, मेल मिलाप या सद्भाव न रहकर ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, मतभेद और लड़ाई झगड़ा' ही होगा। ऋषि ने बड़े दुःख के साथ लिखा कि "विदेशियों के आर्यावर्त्त में राज्य ह

के कारण आपस की फूट, मतभेद आदि हैं। ......जब भाई भाई आपस में लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पंच बन बैठता है।" हमारी जिन कमजोरियों से विदेशियों ने लाभ उठाया है उन्हें दूर करना ही ऋषि दयानन्द के खण्डनात्मक कार्य का ध्येय था।

ब्राह्मसमाज के खंडन के प्रकरण को देखने पर यह बात और भी स्पष्ट होजाती है। ब्राह्म समाज और प्रार्थना समाज का इतना अधिक खंडन ऋषि ने केवल उनके विदेशीपन के कारण ही किया प्रतीत होता है। वह लिखते हैं:—

"इन लोगों में स्वदेश भक्ति बहुत न्यून है। अपने देश की प्रशंसा व पूर्वजों की बड़ाई करना तो दूर रहा, उसके स्थान पर भरपेट निन्दा करते हैं। ब्रह्मादि ऋषियों का नाम भी नहीं लेते प्रत्युत ऐसा कहते हैं कि बिना अंग्रेजों के सृष्टि में आज पर्यन्त कोई विद्वान ही नहीं हुआ। आर्यावर्तीय लोग सदा से मूर्ख चले आये हैं। उनकी उन्नति कभी नहीं हुई।" इनकी भर्त्सना करते हुये वह लिखते हैं कि "भला जब आर्यावर्त में उत्पन्न हुए हैं और इसी का अन्न जल खाया पिया, अब भी खाते पीते हैं तब अपने माता पिता पितामह आदि के मार्ग को छोड़कर दूसरे विदेशी मतों पर अधिक झुक जाना, ब्राह्मसमाजी और प्रार्थनासमाजियों का एतद्देशस्थ संस्कृत विद्या से रहित अपने को विद्वान् प्रकाशित करना, इंग्लिश भाषा पढ़के पण्डिताभिमानी होकर झटिति एक मत चलाने में प्रवृत्त होना मनुष्यों का स्थिर

और बुद्धिकारक काम क्योंकर होसक्ता है ? कितने स्वदेशाभिमानी थे ऋषि दयानन्द ।

यहां पर महर्षि दयानन्द ने ब्राह्मसमाजियों के विदेशी मत ईसाइयत की ओर झुकाव होने के कारण ही उन्हें इतना फटकारा था। शायद इस और ऐसी अन्य समीक्षाओं के कारण १६०१ में जन संख्या के अध्यक्ष मिस्टर बनने लिखा है:—

"Dayanand feared Islam and Christianity because he considered that the adoption and adaptation of any foreign creed would endanger the national feelings he wished to foster."

"ऋषि दयानन्द को आशंका थी कि इस्लाम और ईसाइयत जैसे विदेशी मतों के अपनाने से देशवासियों की राष्ट्रिय भावनाओं को जिनको वह जागृत करना चाहते थे ठेस पहुँचेगी ।"

आर्यसमाज और राजनीति

"जो उन्नति करना चाहो तो आर्यसमाज के साथ मिलकर उसके उद्देश्य के अनुसार आचरण करना स्वीकार कीजिए, नहीं तो कुछ हाथ न लगेगा, क्योंकि हम और आपको अति उचित है कि जिस देश के पदार्थों से अपना शरीर बना, अब भी पालन होता है और आगे होगा, उसकी उन्नति तन,

मन, धन से सब जने मिलकर प्रीति से करें। इसलिए जैसा आर्यसमाज आर्यावर्त देश की उन्नति का कारण है, वैसा दूसरा नहीं होसकता।"

आर्य समाज को एक साम्प्रदायिक संस्था मानने वाले लोग ऋषि के उपर्युक्त वाक्यों को ध्यान पूर्वक पढेंगें तो उन्हें पता लगेगा कि आर्य समाज एक सम्प्रदाय नहीं अपितु सार्वभौम संस्था है जिसका मुख्य उद्देश्य "संसार का उपकार करना है। अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना" इस महान उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त आर्यसमाज के साथ मिलने की प्रेरणा उपर्युक्त लेख में है। महर्षि ने आर्यसमाज को देश की उन्नति के लिये सबसे अच्छी संस्था माना है। कहना न होगा कि देशकी उन्नति का अर्थ राष्ट्र का सर्वाङ्गीण विकास है।

प्राय: सुनने में आता है कि आर्यसमाज विशुद्ध धार्मिक संस्था है वास्तव में आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। परन्तु जब हम यह कहते हैं तो हमारे सामने धर्म का वह रूप होता है जिसे महर्षि दयानन्द ने अपनाया है। 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' 'धर्म वह है जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति हो। धर्म के इन्हीं अर्थों में आर्यसमाज एक धार्मिक संस्था है। जिस धर्म का स्वरूप इतना व्यापक हो; अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी के शब्दों में, राजनीति ही क्या संसार की कोई भी नीति उसकी सीमा से बाहर

नहीं रह सकती। वैदिक धर्म अधूरा नहीं है। राजनीति उसका आवश्यक अङ्ग है। राजनीति सत्यार्थप्रकाश के मुख्य विषयों में है। इसमें ऋषि ने राजनीति को राजनीति के अतिरिक्त राजधर्म के नाम से भी पुकारा है क्योंकि वह राज्य शास्त्र को धर्मशास्त्र के ही अन्तर्गत मानते थे। मनुस्मृति के अध्ययन से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि राजनीति धर्म की विविध शाखाओं में से एक है।

आर्य समाज का विश्वास है कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है।" जब ऐसा है तो मानना पड़ेगा कि आर्य समाज जिसकी नींव वेद पर है, वेद की सभी विद्याओं का प्रसार एवं प्रचार करने वाली संस्था है। वेद में राजनीति सम्बन्धी ज्ञान की कमी नहीं है। सूक्त के सूक्त राजनीति से भरे हुए हैं।

यहां तक तो रही सिद्धान्त की बात। सक्रिय राजनीति में भी आर्य समाज पीछे नहीं रहा। Indian Unrest के लेखक वेलेन्टाइन शिरोल ने ठीक ही लिखा था कि जहां जहां आर्य समाज का ज़ोर है, वहां वहां राजद्रोह प्रबल है। सर्व प्रथम १८७५ में राजकोट में आर्य समाज की स्थापना हुई थी। उस समय कांग्रेस या किसी अन्य राजनैतिक संस्था का जन्म भी नहीं हुआ था। उक्त आर्यसमाज की राष्ट्रिय प्रवृत्तियों के कारण उसके अधिकारियों को उसी वर्ष जेल की हवा खानी पड़ी थी। आर्य समाज और उसकी संस्थायें बृटिश सरकार के लिए सबसे भारी खतरा समझी जाने लगीं। गुरुकुल कांगड़ी

को तो विद्रोह का केन्द्र समझा जाता था। आर्य समाज और विद्रोह पर्यायवाची बन गये। ब्रिटिश भारत और रियासतों में सर्वत्र आर्य समाज को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। समाज मन्दिरों पर से ओम् के झन्डे तक उतारे गये। इतना दमन होने पर भी आर्य समाज दिन प्रतिदिन आगे बढ़ता ही गया। भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में श्री श्यामजीकृष्ण वर्मा लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, भाई परमानन्द, सरदार भगतसिंह आदि के नेतृत्व में जो भाग आर्य समाज ने लिया वह विश्वविदित है। इतिहास का विद्यार्थी उसे भुला नहीं सकता।

आर्य समाज का कार्यक्रम चहुंमुखी था। उसके ऊपर भारत ही नहीं समस्त ससार के धार्मिक तथा सामाजिक सुधार का भी भार था। राजनीति उसके विशाल कार्यक्रम का एक अंग था। उसकी सारी शक्ति एक ही दिशा में नहीं लग सकती थी। उसी समय एक दूसरी संस्था का निर्माण किया जा रहा था जिसका एक मात्र लक्ष्य देश की राजनैतिक उन्नति ही था। जब कि आर्य समाज को सब ही विषयों पर ध्यान देना था, कांग्रेस ने केवल राजनीति में काम किया। आर्य समाज ने अपने कार्यक्रम का यह भाग कांग्रेसको सौंप दिया। जनता उसके पीछे हो ली। कालान्तर में आन्दोलन की इस चहल पहल में लोग क्रान्ति के जन्मदाता और स्वराज्य के प्रेरक आर्यसमाज को भूल गये।

किन्तु आर्य समाज निश्चिन्त होकर नहीं बैठा रहा।

यद्यपि उसने देश के बाह्य शत्रुओं से युद्ध करने का काय कांग्रेस के कन्धों पर छोड़ दिया तथापि अन्दर के शत्रुओं से उसका संघर्ष जारी रहा। आपस की फूट, छूतछात, अविद्या, सामाजिक कुरीतियां, अन्धविश्वास आदि शत्रुओं से वह सदा टक्कर लेता रहा। पारस्परिक मतभेदों को दूर करने के लिए उसने शुद्धि और संगठन की नींव डाली, छूतछात को दूर करने के लिए उसने अछूतोद्धार का बीड़ा उठाया, अविद्या के नाश के लिये स्कूलों और कालेजों तथा गुरुकुलों का जाल बिछाया, सामाजिक कुरीतियों के नाश के लिए अत्यन्त प्रचंड आन्दोलन किया, अन्ध विश्वासों को मिटाने के लिये उसने तर्क का आश्रय लिया, देश के आर्थिक विकास के लिये उसने स्वदेशी के प्रयोग तथा गोरक्षा आन्दोलन को जन्म दिया, राष्ट्र की एकता के लिए राष्ट्र भाषा हिन्दी का प्रचार किया आदि आदि। एक ओर कांग्रेस का संघर्षात्मक काम जारी था तो दूसरी ओर आर्य समाजका रचनात्मक कार्यक्रम चल रहा था। कौन कह सकता है कि आर्य समाज के रचनात्मक कार्यक्रम से कांग्रेस के कार्यक्रम को बल नहीं मिला ? अब तो गो सेवा संघ, हरिजन सेवक संघ, हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि नई नई संस्थायें आर्य समाज के कार्यक्रम के एक एक अंग को लेकर खड़ी हो गई हैं। किन्तु इन सबका श्रीगणेश एक साथ आर्य समाज ने किया इससे कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति इन्कार नहीं कर सकता। यह रचनात्मक कार्यक्रम ही भारत की राष्ट्रियता को आर्य समाज की सबसे बड़ी देन है। आर्यसमाज राष्ट्रिय संस्था अवश्य है किन्तु वह राजनैतिक दल नहीं।

स्वामी दयानन्द और रियासतें

भारत की दुर्दशा पर आंसू बहाते हुये ऋषि लिखते हैं— "अन्य देशों में राज्य करने की कथा ही क्या कहना किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त होरहा है।"[1] कहना न होगा कि यहां 'जो कुछ' से अभिप्राय भारतीय रियासतों से है। यद्यपि रियासतों पर ब्रिटिश सरकार का अंकुश था फिर भी कुछ अंशों में वे स्वतन्त्र थीं। इस विचार से ऋषि ने निश्चय किया कि पहले रियासतों में सुधार करना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि देश की जनता का एक बहुत बड़ा भाग रियासतों में रहता है और ये रियासतें देश के सभी भागोंमें पाई जाती हैं। इसलिए रियासतों का सुधार होजाने पर देश का सुधार करने में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती थी। उदयपुर में रहते हुए श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या से स्वामी जी ने एक बार कहा था–

"मैं चाहता हूँ कि देश के राजे महाराजे अपने शासन में सुधार और संशोधन करें। फिर भारत भर में आप सुधार हो जायगा।"

रियासतों के सुधार में भारत भरका सुधार निहित है— ऐसा सोचकर ही ऋषि ने अपना मुख्य कार्यक्षेत्र राजस्थान को चुना। राजस्थान के केन्द्र अजमेर को उन्होंने अपना केन्द्र

---

[1] सत्यार्थ० पृ० १४१।

बनाया। सत्यार्थप्रकाश का अधिकांश उन्होंने उदयपुर में बैठकर लिखा। उदयपुर में ही उन्होंने अपनी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा की स्थापना की और उदयपुर नरेश को ही उसका सभापति बनाया। चित्तौड़ में उन्होंने गुरुकुल खोलने की इच्छा प्रगट की। आखिर राजस्थान में ही 'ईश्वर, तेरी इच्छा पूर्ण हो' कहते हुये उन्होंने प्राणोत्सर्ग किया।

राजाओं के नैतिक पतन और रियासतों की दुर्दशा से स्वामी जी अत्यन्त दुःखी थे। वे प्रायः कहा करते थे कि—

"हिन्दू राज्यों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। वे कभी के नष्ट होगये होते, परन्तु जितने या जो कुछ भी बचे हुए हैं, वे उनकी रानियों के पतिव्रत धर्म से बचे हुये हैं। यदि राजाओं के कर्म पर निर्भर होता, तो कभी का बेड़ा डूब गया होता।"

जोधपुर नरेश को उनके नैतिक पतन के कारण फटकारते हुए उन्होंने कितनी निर्भीकता के साथ कहा था कि—

"राजन्, राजा लोग सिंह समान समझे जाते हैं। स्थान २ पर भटकने वाली वेश्या कुतिया के सदृश है। वीर शार्दूल का कृपण कुतिया पर प्रेम करना और उस पर आसक्त होजाना सर्वथा अनुचित है। आर्यजाति की कुल मर्यादा के यह सर्वथा विपरीत है।" सभी जानते हैं कि स्वामी जी के ये शब्द ही मृत्यु का कारण बने। बम्बई के एक भाषण में इसी विषय की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था कि—

"इस देश के राजाओं की अवनति और दुःख का कारण उनके मूर्ख और दुष्ट मन्त्री हैं। यदि हमारे राजाओं की ऐसी दशा और बुद्धि न होती तो आज हमारी और हमारे देश की भी यह दीन हीन दशा न होती। वास्तव में इस देश की अवनति और पतन का कारण ऐसे राजे रईस ही हैं जो दिन रात प्रजा के धन को नाच तमाशों और व्यर्थ के कामों में उड़ाते हैं। वे अपनी शारीरिक शक्ति और मानसिक स्मृति को खोकर किसी काम के नहीं रहते। इनके प्रमाद और अनभिज्ञता से राज्य के प्रबन्ध में बड़ी अव्यवस्था हो जाती है। फिर नये २ बखेड़े खड़े होते रहते हैं।"

ऋषि के इन थोड़े से शब्दों में रियासती प्रजा के कष्टों, जनता के धन के अपव्यय, राजाओं की प्रजा के प्रति उपेक्षा, उनके नैतिक पतन और इस सबके लिए मंत्रियों के उत्तरदायित्व का कितना विशद चित्रण है।

यह सच है कि स्वामी जी ने रियासतों के सुधार के लिए इस रूप में कोई आन्दोलन नहीं किया जिस रूप में प्रजा मण्डलों द्वारा किया गया। उन्होंने पत्तों को सींचने के स्थान में जड़ को सींचना उचित समझा। इस निमित्त उन्होंने राजाओं के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया और इसी उद्देश्य से उन्होंने मेवाड़, जयपुर, शाहपुरा, भरतपुर, रीवां, ग्वालियर, धौलपुर, इन्दौर, जोधपुर, आदि सभी राज्यों का दौरा करके वहां के नरेशों के कानों तक अपना सन्देश

पहुँचाने का प्रयत्न किया। दिल्ली दरबार के अवसर पर इन्दौर नरेश तथा कुछ अन्य नरेशों ने मिलकर यह यत्न किया था कि समस्त देशी नरेशों का एक सम्मेलन करके स्वामी जी का उपदेश कराया जाये। अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर ही स्वामी जी ने महाराजा प्रतापसिंह जी को एक अत्यन्त महत्वपूर्ण पत्र लिखा। पत्र में उन्होंने लिखा था:—

"श्री मान्यवर शूर महाराज श्री प्रतापसिंह जी !

आनन्दित रहो। यह पत्र बाबा महाशय के दृष्टि-गोचर भी करा दीजिए। मुझे इस बात का बहुत शोक है कि श्रीमान् जोधपुराधीश आलस्य आदि में वर्तमान हैं और आप तथा बाबा महाशय रोगी शरीर वाले हैं। इस राज्य में सोलह लाख से अधिक मनुष्य बसते हैं। उसके रक्षण तथा कल्याण का भार आप लोग उठा रहे हैं। उसका सुधार या विगाड़ भी आप तीन महाशयों पर निर्भर है। तथापि आप लोग अपने शरीर की रोग से रक्षा करने तथा आयु बढ़ाने के काम पर बहुत अल्प ध्यान देते हैं ! यह बात कितनी शोचनीय है।

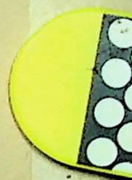
"मैं चाहता हूँ कि आप अपनी दिनचर्य्या मुझ से सुधार लें, जिससे मारवाड़ का तो क्या अपने आर्यावर्त देश भर का कल्याण करने में आप लोग प्रसिद्ध हो जायें। आप जैसे योग्य पुरुष जगत् में बहुत थोड़े जन्मते हैं और जन्म लेकर भी बहुत स्वल्प आयु भोगते हैं।

"इसके हुए बिना देश का सुधार कभी नहीं होगा। आप

जैसे पुरुष जितना अधिक जिएं, उतनी अधिक देशोन्नति होती है। इस पर आप लोगों को ध्यान अवश्य देना चाहिए।"

इस पत्र से स्पष्ट है कि स्वामीजी ने देशी नरेशों को सुधारने के लिए कितना प्रयत्न किया। इसमें तनिक संदेह नहीं कि यदि स्वामीजी का इतनी जल्दी प्राणान्त न हो जाता तो वह अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफल हो जाते। नरेशों का जीवन इतना बिगड़ चुका था कि इतने स्वल्प समय में ऋषि का स्वप्न पूरा होना कठिन ही था। विदेशी शासकों के प्रभुत्व के कारण इस महान् कार्य को करने के लिए बहुत अधिक समय और साधनों की आवश्यकता थी। रियासतों के सुधार का कार्य-क्रम ऋषि के भारत को 'स्वाधीन स्वतन्त्र और अखंड', रखने के व्यापक कार्यक्रम का आवश्यक अंग था। यद्यपि वह उनके जीवन काल में पूरा न हो सका तथापि ऋषि की भावना ज़ोर पकड़ती गई और रियासतों में जागृति एवं प्रगति पैदा हुई। रियासतों की समस्या एक बहुत बड़ा प्रश्न था। इस महान् प्रश्न को हल करने के लिये सबसे पहला प्रयत्न ऋषि दयानन्द ने किया था—आर्यसमाज को इस पर गर्व है। गर्व ही नहीं, आर्य समाज ने रियासतों के सुधार में सक्रिय भाग लिया। पटियाला, धौलपुर तथा हैदराबाद आदि रियासतों में आर्य समाज द्वारा प्रजा के नागरिक हितों की रक्षार्थ किये गये आन्दोलन इसके साक्षी हैं।

——




2.1,29
37342



